कल्याण
वर्ष ६१
संख्या ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, अगस्त १९८७ ई०

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें १.२५ रु० विदेशमें १५ पेंस

जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य भारतमें ३०.०० रु० विदेशमें ५ पौंड अथवा ७ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्द-भवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
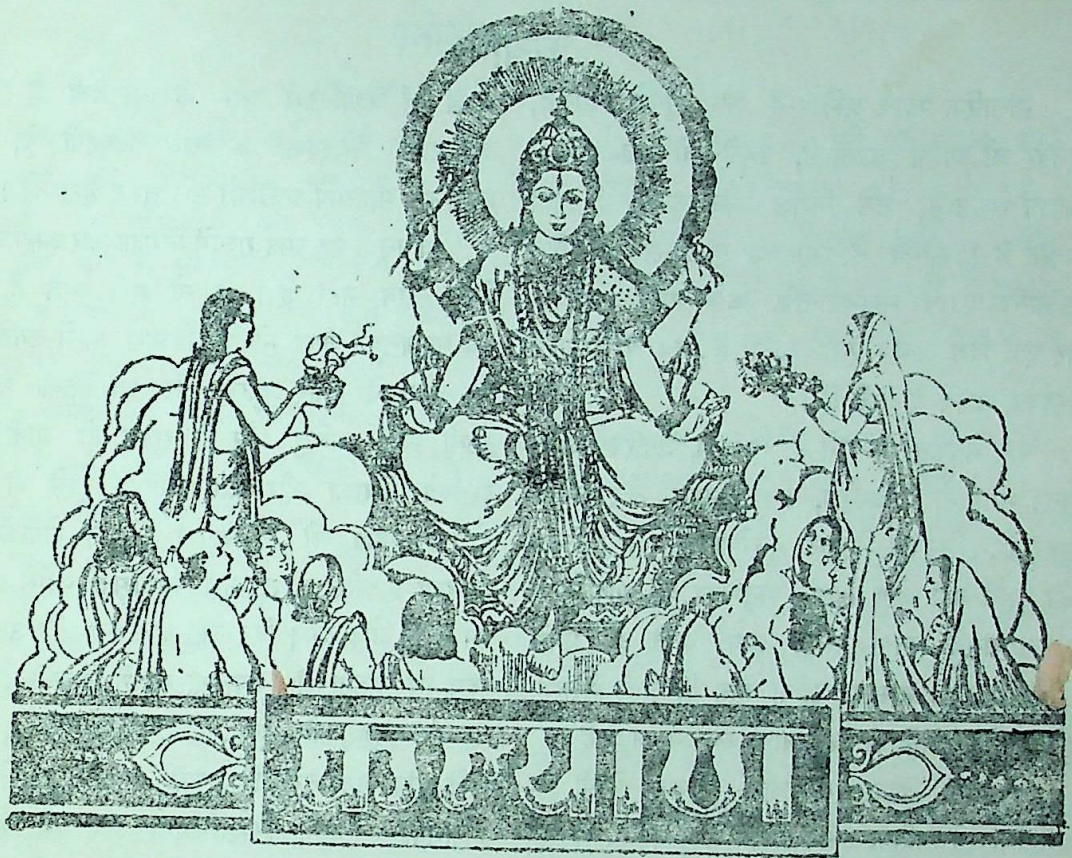
शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥

वर्ष ६१ | गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, अगस्त १९८७ ई० | संख्या ८ पूर्ण संख्या ७२९

श्रीबालकृष्णकी मनोहर छवि

सोभा मेरे स्यामहि पै सोहै ।
बलि-बलि जाउँ छबीले मुख की, या उपमा कौं को है ॥
या छबि की पटतर दीबे कौं, सुकबि कहा टकटोहै ?
देखत अंग-अंग प्रति बानक, कोटि मदन-मन छोहै ॥
ससि-गन गारि रच्यौ बिधि आनन, बाँके नैननि जोहै ।
सूर स्याम-सुंदरता निरखत, मुनि-जन कौ मन मोहै ॥

कल्याण

सांसारिक पदार्थ अनित्य हैं और सुखसे रहित हैं, इनपर जो आस्था करता है, इनसे जो सुख-शान्तिकी आशा रखता है, उसे निराश और दुःखी ही होना पड़ता है। सम्भव है, मोहवश कुछ समयके लिये सांसारिक पदार्थ सुख-शान्तिके लिये पर्याप्त जान पड़ें, पर एक दिन अवश्य ऐसा आता है जब ये मझधारमें छोड़कर जवाब दे बैठते हैं।

एक भगवान् ही ऐसे हैं जो नित्य, अपरिवर्तनशील, सत्, सनातन, सर्वैश्वर्यपूर्ण, सर्वशक्तिमान् और स्वभाव-सुहृद् हैं, जिनपर विश्वास करनेवालोंको कभी निराश और दुःखी नहीं होना पड़ता। मनुष्यका यह भगवद्विश्वास उसे भगवान्के अनन्त स्नेह, ज्ञान, शक्ति और प्रेमके उस परम उच्च स्तरपर पहुँचा देता है, जहाँ निराशा, दुःख और अशान्तिकी कल्पनाका लेश भी नहीं है।

भगवान्में विश्वास रखनेवाले पुरुषपर किसी भी सांसारिक परिस्थितिका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, न वह प्रिय कहानेवाले पदार्थों और परिस्थितियोंकी प्राप्तिसे हर्षित होता है और न अप्रिय कहानेवाले पदार्थों और परिस्थितियोंकी प्राप्तिसे दुःखी ही। बड़े-से-बड़ा धक्का भी उसे हिला नहीं सकता।

भगवान्में विश्वास करनेपर भी यदि तुममें कहीं अशान्ति या दुःख दिखायी देता है तो निश्चय है कि कहीं-न-कहीं तुम्हारे विश्वास करनेमें ही त्रुटि है। उस त्रुटिको दूर करनेके लिये विश्वासपूर्वक प्रभुसे प्रार्थना करो। तुम्हारी त्रुटि दूर हो जायगी और तुम दुःख एवं अशान्ति-का समूल नाश करनेमें समर्थ होओगे।

कहीं भूल हो जानेपर जो मनुष्य उसे तुरंत सुधारनेमें नहीं लग जाता तो उसकी भूल स्थायी बनकर स्वभावके रूपमें परिणत हो जाती है और फिर नाना प्रकारके नये-नये विघ्न उत्पन्न करके निराशाको—फलतः दुःख एवं अशान्तिको और भी बढ़ा देती है। अतः जहाँ-कहीं निराशाका अन्धकार दिखायी दे, वहीं भगवान्के मङ्गलमय प्रकाशसे उसे तुरंत हटा दो।

भगवान्के मङ्गलमय राज्यमें निराशा और असफलताके लिये स्थान नहीं है। ये तो तभी आते हैं, जब हम भगवान्की जगह भोगोंपर विश्वास करने लगते हैं। इस अवस्थामें हमारे दुःख और अशान्तिकी शृङ्खला टूटती नहीं; अपितु और भी सुदृढ़ हो जाती है। इसलिये निराशा और असफलताका दूरसे भी दर्शन होते ही समझ लो कि अपना विश्वास भोगोंकी ओर हो गया है और तुरंत उस विश्वासको वहाँसे हटाकर भगवान्में जोड़ दो। फिर उसी क्षण बल और उत्साहसे हृदय भर जायगा और सफलता सामने दिखायी देगी।

संशय, भय, क्रोध, ईर्ष्या, शोक, विषाद, चिन्ता, उद्वेग आदि दोष भगवान्में विश्वासकी कमीसे ही आते हैं। भगवान्की महानता, सर्वशक्तिमत्ता और सौहार्द्र-प्रेममें विश्वास होते ही हृदयसे ये सारे दोष उसी क्षण वैसे ही लुप्त हो जाते हैं, जैसे सूर्यके उदय होते ही अन्धकार।

भगवान्के समान सदा सब बातोंको जाननेवाला, तुम्हारे दुःख-दर्दके मूलतत्त्वको समझने और उसे मिटानेकी शक्ति रखनेवाला, तुम्हारे सारे अभावोंको जानने और उनकी सर्वाङ्गपूर्ण पूर्ति करनेकी शक्ति रखनेवाला, पुकारते ही उत्तर देनेवाला तुम्हारा परम सुहृद्—सदा हित करनेमें तत्पर अन्य कोई भी नहीं है। तुम भगवान्को छोड़कर अन्य किसीमें भी जो तनिक भी विश्वास रखते हो, यही तुम्हारा मोह है—अज्ञान है एवं सारी विपत्तियोंका मूल है। इसे छोड़कर अपने भगवान्को पहचानते ही तुम्हारे सारे दुःख-दर्द सदाके लिये नष्ट हो जायँगे और तुम नित्य अनन्त सुख-शान्तिको पाकर कृतार्थ हो जाओगे।—'शिव'

मनोबोध—१३

(समर्थ स्वामी रामदास महाराजकी वाणी)

मना क्रोपआरोपणा ते नसावी ।
मना बुद्धि हे साधुसंगीं वसावी ॥
मना नष्ट चांडाळ तो संग त्यागीं ।
मना होइं रे मोक्षभागीं विभागी ॥ १०७ ॥

हे मन ! क्रोधको अङ्गीकार मत करो । उसका आरोपण मत होने दो । यह बुद्धि साधुसंगतिमें ही रहे । दुष्ट चाण्डाल-रूप नाशक क्रोधादिके सङ्गका त्याग कर दो । हे मन ! संसारका त्याग करके परमात्माका साथी बनकर मोक्षके भागी बनो ।

सदा सर्वदा सज्जनाचेनि योगें ।
क्रिया पालटे भक्तिभावार्थ लागे ॥
क्रियेवीण वाचाळता ते निवारीं ।
तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥ १०८ ॥

हे मन ! सत्संगतिसे क्रिया बदलनेपर भक्ति-भावका लाभ होता है । (सर्वदा संत-संगति ही क्रिया-परिवर्तन कर सकती है ।) क्रियाके बिना वाचाल मत होओ । बकवासका निवारण करो । वादका अन्त करनेवाला हितकर संवाद किया करो ।

जनीं वाद वेवाद सोडूनि द्यावा ।
जनीं सूखसंवाद सूखें करावा ॥
जगीं तोचि तो शोकसंतापहारी ।
तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥ १०९ ॥

मनुष्यको वाद-विवाद छोड़ देना चाहिये तथा सुखपूर्वक सुखसंवाद करना चाहिये । जगत्में सुखसंवाद ही शोक और संतापको हरण करता है । जिससे वाद-विवादका अन्त हो जाय ऐसा संवाद ही हितकारी होता है ।

तुटे वाद संवाद त्यातें म्हणावें ।
विवेकें अहंभाव यातें जिणावें ॥
अहंतागुणें वाद नानाविकारी ।
तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥ ११० ॥

जिससे वादका खण्डन हो उसे ही संवाद कहते हैं । विवेकके द्वारा अहंकारको जीतना चाहिये । अहंकारके कारण नाना प्रकारके विकारों (क्रोध, मात्सर्यादि) का जन्म देनेवाला विवाद होता है; अतएव जिससे विवाद समाप्त हो जाय वही संवाद हितकर होता है ।

हिताकारणें बोलणें सत्य आहे ।
हिताकारणें सर्व शोधूनि पाहें ॥
हिताकारणें बंड पाखांड वारी ।
तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥ १११ ॥

हितके लिये सत्य बोलना चाहिये । (आत्मकल्याण ही परम हित है ।) हितके लिये सर्वशोधन करना चाहिये । (आत्मज्ञान-हेतु विवेक करके, खोजबीन करके संसारको देखना चाहिये ।) हितके लिये पाखंडका नाश करो । नम्र व्यवहार करो । जिससे विवाद मिटे ऐसा सुख संवाद हितकर (कल्याणकारी) होता है ।

जगीं सांगतां ऐकतां जन्म गेला ।
परी वादवीवाद तैसाचि ठेला ॥
उठे संशयो वाद हा दंभधारी ।
तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥ ११२ ॥

हे मन ! जगत्में कहते-सुनते जन्म बीत गया; परंतु वाद-विवाद वैसा ही रह गया । जहाँ संशय हो वहीं दम्भ धारण करनेवाले वादका निर्माण होता है । जहाँ वाद-विवाद नष्ट हो जायँ वह संवाद ही हितकर होता है ।

जगीं हीत पंडीत सांडीत गेले ।
अहंतागुणें ब्रह्मराक्षस जाले ॥
तयाहूनि व्युत्पन्न तो कोण आहे ।
मना सर्व जाणीव सांडूनि राहें ॥ ११३ ॥

जगत्में जो पण्डित कहाते हैं वे अपना कल्याणकर कर्म छोड़ते गये और अहंकारके कारण ब्रह्मराक्षस हो

गये। (आत्मकल्याणके साधनका त्याग करनेके कारण वे ब्रह्मराक्षस हुए।) अतः उन पण्डितोंसे व्युत्पन्न बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानी कौन है ? (यह विचारकर देखो) अतः हे मन ! सब प्रकारकी बाह्य अनुभूति छोड़कर रहो।

[सबसे अधिक बुद्धिमान् परमेश्वर ही हैं; क्योंकि वे अन्तर्यामी हैं, अतः हे मन ! बाह्य अनुभूतिका त्याग कर अन्तरङ्ग-समाधिमें लीन रह। तात्पर्य यह कि अन्तर्मुखी समाधिमें ही उन्मनी-अवस्था आनेपर व्यक्तिका मन उन परमज्ञानी परमात्माके स्वरूपका ज्ञान पा सकता है तथा विवादमें न पड़नेके कारण अत्यन्त अनुभव-जन्य ज्ञान प्रकाशित होता है।]

फुकाचें मुखीं बोलतां काय वेंचे।
दिसंदीस अभ्यंतरीं गर्व सांचे॥
क्रियेवीण वाचाळता व्यर्थ आहे।
विचारें तुझा तूंचि शोधूनि पाहें॥ ११४॥

मुँहसे निरर्थक क्या बोलता जाता है ? प्रतिदिन भीतर अहंकार जमा होता जाता है। क्रिया (सत्कर्म) के बिना केवल बड़बड़ाना व्यर्थ है। विवेकपूर्वक अपने-आपको खोज-बीन करके देखा कर।

तुटे वाद संवाद तेथें करावा।
विवेकें अहंभाव हा पालटावा॥
जनीं बोलण्यासारिखें आचरावें।
क्रियापालटें भक्तिपंथेंचि जावें॥ ११५॥

जहाँ वाद मिट जाय वहीं संवाद करना चाहिये। विवेकपूर्वक अहंभावको बदलना चाहिये। जो बोले वही करना चाहिये। (क्रिया और शब्दकी एकरूपताके साधनेका प्रयत्न करना चाहिये।) क्रिया बदल कर भक्तिमार्गसे ही जाना चाहिये। (अर्थात् अपने कर्मको भक्तिसे समन्वित करना चाहिये।)

['मैं कर्ता हूं' यह भावना बदलकर 'ईश्वर कर्ता है' यह ज्ञान प्राप्तकर स्वयंके कर्तृत्व-बुद्धिका नाश करना चाहिये। अकर्ता-रूप परमेश्वरके 'अकर्तृत्व-सर्वसाक्षित्व' स्वरूपका बोध प्राप्तकर सत्कार्यमें अपनी क्रियाको बदल देना चाहिये। इससे स्वस्वरूप परमेश्वरमें अधिष्ठित होकर मनुष्य निष्काम कर्म करने लगता है। ऐसा सद्गुरु समर्थ बोध देते हैं।]

[भक्तिमार्गसे ही जाना चाहिये; क्योंकि किसी भी प्रसङ्गमें भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तोंका संरक्षण ही करते हैं। इसे पौराणिक उदाहरण देते हुए सद्गुरु समर्थ १२५ वें श्लोकतक समझाते हैं।]

बहू श्रापितां कष्टला अंबऋषी।
तयाचे स्वयें श्रीहरी जन्म सोशी॥
दिला क्षीरसिंधू तया ऊपमानी।
नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी॥ ११६॥

अम्बरीष शापित वाणी सुनकर अत्यन्त दुःखी हुए। उनके लिये स्वतः भगवान् श्रीहरि अवतार लेनेका कष्ट सहे। उस सृष्टिके संचालकने उपमन्युको क्षीरसिन्धु दिया। ऐसे भक्ताभिमानी भगवान् भक्तोंकी उपेक्षा कभी नहीं करते।

[दुर्वासा ऋषिने राजा अम्बरीषको 'दस बार जन्म लेने पड़ेंगे' ऐसा शाप दिया; किंतु ठीक समयपर भगवान् विष्णुने उपस्थित होकर दुर्वासाकी वाणी सत्य करनेका संकल्प लेकर अपने भक्तको बचाकर स्वयं अवतार लेना आरम्भ कर दिया। तबसे धर्मग्लानि होनेपर भगवान् बार-बार अवतार लेने लगे। क्षुधा-पीड़ित होकर उपमन्यु नामक भक्त बालकने भगवान्को प्रेमसहित उलाहना दी तो भगवान्ने उसे क्षीरसिन्धु ही दे दिया। ऐसे कृपालु भगवान् भक्त-रक्षणमें तत्पर होनेके कारण भक्तोंकी उपेक्षा कभी नहीं करते।] (क्रमशः)

(अनु०—कुमारी रोहिणी गोखले)

कर्मयोग

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[शास्त्रोंमें निष्काम कर्मकी अत्यधिक महिमा है । सामान्यतः कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि निष्काम कर्म होना बहुत कठिन है । इस लेखमें परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने निष्काम कर्मके तत्त्वोंका निरूपण करते हुए जीवनमें उतारनेकी सरल विधि प्रदर्शित की है, जिसे पाठकोंके लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।—सम्पादक]

जगत्‌के छोटे-बड़े सभी चराचर जीव प्रकृतिके और अपने गुण, कर्म, स्वभावके वशमें हुए प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःखादि भोगोंको भोगते हैं ।

कर्मोंमें आसक्ति, कर्तृत्व-अभिमान, फलकी इच्छा और विषमता आदि दोष विषसे भी अधिक विष होकर मनुष्यको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं ।

लोग भ्रमवश निष्काम कर्मको असम्भव मानकर कह देते हैं कि स्वार्थरहित कर्म कभी हो ही नहीं सकते । वे इस बातको नहीं सोचते कि जब चेष्टा और अभ्यास करनेसे स्वार्थ या कामना कम होती है, तब किसी समय उनका नाश भी अवश्य हो सकता है ।

ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण कर्म करनेसे मनुष्य पुण्य और पापोंसे छूटकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण—दोनों ही प्रकारके कर्म मुक्तिको देनेवाले हैं ।

यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा या जीविका आदिके सभी कर्म ईश्वरार्थ ही करने चाहिये ।

जैसे सच्चा सेवक (मुनीम, गुमाश्ता) प्रत्येक कार्य स्वामीके नामपर, उसीके निमित्त, उसीकी इच्छाके अनुसार करता हुआ किसी कर्म अथवा धनपर अपना अधिकार नहीं समझता और स्वप्नमें भी किसी वस्तुपर उसके अन्तःकरणमें ममत्वका भाव न आनेसे वह न्याययुक्त की हुई प्रत्येक क्रियामें हर्ष-शोकसे मुक्त रहता है, उसी प्रकार भगवान्‌के भक्तको उचित है कि वह अपने अधिकारगत धन, परिवार आदि सामग्रीको ईश्वरकी ही समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार उसीके कार्यमें लगानेकी न्याययुक्त चेष्टा करे और वह जो भी नवीन कर्म या क्रिया करे, उसे उसकी प्रसन्नता और आज्ञाके अनुकूल ठीक उसी प्रकार करे जिस प्रकार बंदर नटकी इच्छा और आज्ञानुसार करता है ।

परम पिता परमेश्वरकी आज्ञाका पालन करते हुए, कर्मफलकी इच्छाको त्यागकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ कर्तव्य-पालनस्वरूप किये हुए कर्म निष्काम कर्म होते हैं, इनमें आसक्ति और ममताके लिये स्थान नहीं रहता ।

उत्तम उद्देश्य अर्थात् परमात्माकी प्रसन्नताका लक्ष्य रखकर कर्म करने चाहिये। ऐसा उद्देश्य रखना पाप नहीं। इच्छा, कामना, आसक्ति और ममता ही पापका मूल है ।

धार्मिक कर्म करनेकी इच्छा करनेमें कोई दोष नहीं, पर उन कर्मोंके फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये ।

स्वार्थरहित उत्तम कर्म करनेकी इच्छा निर्मल पवित्र इच्छा है, यह कर्मोंको सकाम नहीं बनाती ।

स्वार्थरहित धर्मपालनकी इच्छा विधेय है और उसके फलकी इच्छा त्याज्य है ।

नवीन कर्मोंमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है, इसीलिये यह उनके फलका भागी समझा जाता है । ईश्वर या प्रारब्धकी इसमें कोई जबरदस्ती नहीं है ।

निष्काम कर्मयोगका जो इतना माहात्म्य है वह कर्मोंकी महत्ताके हेतुसे नहीं है, वह माहात्म्य है कामनाके त्यागका—सब कुछ भगवदर्पण करनेके वास्तविक भावका।

बड़े-से-बड़ा सकाम कर्म मुक्तिप्रद नहीं हो सकता, परंतु छोटे-से-छोटे कर्ममें जो निष्काम भाव है, वह मुक्ति देनेवाला होता है।

कर्मयोगका रहस्य बड़ा ही गहन है। इसका वास्तविक तत्त्व या तो श्रीपरमेश्वर जानते हैं या वे महापुरुष भी जानते हैं जिन्होंने कर्मयोगद्वारा परमेश्वर (परमात्मा)को प्राप्त कर लिया है।

फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वभावसे किये हुए साधनके नाश होनेका कोई भी कारण नहीं है। फलकी इच्छासे किया हुआ कर्म ही फल देकर समाप्त हो जाता है।

निष्काम कर्मयोगके पालनमें त्रुटि रहनेपर भी उसका उलटा फल अर्थात् कर्ताका अनिष्ट नहीं होता तथा न पालन करनेसे वह दोषका भागी भी नहीं होता।

निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी पालन संस्कारके बलसे क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर अन्तमें साधकको मुक्त कर देता है।

निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है। अतः वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें वह साधकको पूर्ण निष्कामी बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है। यही इसका महत्त्व है।

केवल कञ्चन एवं कामिनीके बाहरी त्यागसे ही मनुष्य सर्वत्यागी नहीं होता, वास्तवमें कञ्चन-कामिनीका बाहरी त्याग निष्काम कर्मयोगके साधनमें उतना आवश्यक भी नहीं है, उसमें तो भावकी ही प्रधानता है।

निष्काम कर्मयोगमें स्त्री, पुत्र और धनादिसे मिलनेवाले विषय-भोगरूप सुखके त्यागके साथ-साथ मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं राग, द्वेष, अहंता, ममता आदिके त्यागकी बड़ी आवश्यकता है। जबतक इन सबका त्याग नहीं होता, तबतक साधकको पूरा लाभ नहीं मिल सकता।

शास्त्रविहित उत्तम क्रियाका नाम 'कर्म' है तथा उसमें आसक्ति और स्वार्थके सर्वथा त्यागपूर्वक समत्वभावका अर्थात् निष्कामभावका नाम 'योग' है। यह निष्कामभाव ही कर्मयोगका स्वरूप, प्राण और रहस्य है।

जिस 'कर्म'में निष्कामभाव है, उसीकी 'कर्मयोग' संज्ञा है।

शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंमें फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वबुद्धिसे केवल भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है। इसीको समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म आदि नामोंसे कहा है।

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि सांसारिक सुखदायक सम्पूर्ण पदार्थोंकी इच्छा या कामनाका सर्वथा त्याग ही कर्मोंके फलका त्याग है।

मन और इन्द्रियोंके अनुकूल सांसारिक सुखदायक पदार्थों और कर्मोंमें चित्तको आकृष्ट करनेवाली जो स्नेहरूपा वृत्ति है, 'राग', 'रस', 'सङ्ग' आदि जिसके नाम हैं, उसके सर्वथा त्यागका नाम आसक्तिका त्याग है।

श्रुति, स्मृति, गीतादि सत्-शास्त्र और महापुरुषोंकी आज्ञा भगवदाज्ञा है।

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, यश-अपयश, जीवन-मरण आदि इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा-सर्वदा सम रहना समत्वबुद्धि है।

स्वयं भगवान्की पूजा-सेवारूप कर्मोंको या भगवदाज्ञानुसार शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको भगवत्प्रेम, भगवान्की

प्रसन्नता या प्रीतिके लिये कर्तव्य समझकर केवल भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेके लिये करना भगवदर्थ कर्म है ।

पद-पदपर स्वामीके स्वरूप और उनकी दयाका दर्शन करते हुए क्षण-क्षणमें मुग्ध होते रहना और सर्वस्व स्वामीका ही समझते हुए अभिमानसे रहित रहकर निमित्तमात्र बनकर प्रभुके आज्ञानुसार कर्मोंका करना सर्वोत्तम भगवदर्पण कर्म है ।

श्रद्धा और प्रेमकी कमी, मान और बड़ाईकी इच्छा, मनकी चञ्चलता, प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, आसक्ति और अहंकार प्रभृति कर्मयोगके साधनमें रुकावट डालनेवाले विशेष दोष हैं ।

विवेक और वैराग्यद्वारा सारे विषय-भोगोंसे मनको हटाकर भगवान्‌की शरण रहते हुए श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम कर्मयोगके साधनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये । इस प्रकार चेष्टा करनेसे सम्पूर्ण दुःखों और दोषोंका नाश होकर परम आनन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है ।

कञ्चन, कामिनी, भोग और आरामकी तो बात ही क्या है, निष्काम कर्मयोगरूप धर्मके थोड़े-से भी पालनके मुकाबलेमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और अपने प्राणोंको भी तुच्छ समझना एवं परम तत्पर होकर उसके पालनके लिये सदा-सर्वदा प्रयत्न करना ही प्राण-पर्यन्त चेष्टा करना है ।

जो इस निष्काम कर्मयोगके रहस्य और प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह फिर इसे छोड़ नहीं सकता ।

साधन करते-करते साधक अहंता, ममता और आसक्ति आदि सारे दोषोंसे मुक्त हो जाता है और उसका सारे संसारमें भी सदा-सर्वदा समभाव हो जाता है ।

सारे कामोंको प्रभुका काम समझना चाहिये । हम लीलामयके साथ काम कर रहे हैं । इससे प्रभुकी इच्छाके अनुसार ही चलना चाहिये ।

यदि आसक्ति या स्वभाव-दोषके कारण प्रभुकी आज्ञाका कहीं उल्लङ्घन हो जाय तो पुनः वैसा न होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये ।

अपनी समझसे कोई अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये । हमलोग किसीकी भलाईके लिये कोई कार्य कर रहे हैं और कदाचित् दैव-इच्छासे उसकी कोई हानि हो जाय तो उसमें चिन्ता या पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये ।

सेवकको तो प्रभुका काम करके हर्षित होना चाहिये और तत्परतासे अपने कर्तव्यपथपर डटे रहना चाहिये ।

रोगी कुपथ्य कर ही लिया करते हैं । इसमें अपना क्या वश है । कुपथ्य करनेपर सद्वैद्य रोगीको धमका तो देता है; परंतु रुष्ट नहीं होता । इसी प्रकार फलको भगवान्‌की इच्छापर छोड़ देना चाहिये और बिना उकताये प्रभुकी लीलामें उनके इच्छानुसार लगे रहना चाहिये ।

फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है ।

यह कर्मयोग दो प्रकारका होता है—एक भक्ति-प्रधान, दूसरा कर्मप्रधान ।

निष्काम प्रेमभावसे हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवदाज्ञानुसार केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही कर्म करनेका नाम भक्तिप्रधान निष्कामकर्मयोग है ।

कर्मप्रधानमें भी भक्ति रहती है; किंतु वह सामान्य-भावसे रहती है । फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेका नाम कर्मप्रधान निष्कामकर्मयोग है ।

कर्मयोगकी निष्ठामें प्रकृति—माया, जीवात्मा और परमेश्वर—ये तीन पदार्थ माने गये हैं । वे सर्वशक्तिमान्, सबके कर्त्ता-हर्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वर उस नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं अर्थात् विज्ञानानन्द घन ब्रह्म भी वे ही हैं । उन्होंने ही अपनी योग-

मायाके एक अंशसे सम्पूर्ण संसारको अपनेमें धारण कर रखा है। माया ईश्वरकी शक्ति है तथा जड़, अनित्य और विकारी है एवं ईश्वरके अधीन है तथा जीवात्मा भी ईश्वरका अंश होनेके कारण नित्य विज्ञानानन्दघन-स्वरूप है, किंतु मायामें स्थित होनेके कारण परवश हुआ वह गुण और कर्मोंके अनुसार सुख-दु:खादिको भोगता एवं जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है; परंतु परमात्माकी शरण होनेसे वह मायासे छुटकारा पाकर परमपदको प्राप्त हो सकता है।

निष्काम कर्मयोगी पवित्र और एकान्त स्थानमें स्थित होकर भी शरीर, इन्द्रिय और मनको स्वाधीन किये हुए परमात्माकी शरण हुआ प्रशान्त और एकाग्रमनसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक परमात्माका ध्यान करता है।

व्यवहारकालमें कर्मयोगी कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे भगवदाज्ञानुसार भगवदर्थ कर्म करता है, इसलिये उसे कर्म नहीं बाँध सकते; क्योंकि राग-द्वेष ही बाँधनेवाले हैं।

भगवान्‌की आज्ञासे भगवदर्थ कर्म किये जानेके कारण कर्मयोगीमें कर्तापनका अभिमान भी निरभिमानके समान ही है।

निष्काम कर्मयोगी व्यवहारकालमें भगवान्‌की शरण होकर निरन्तर भगवान्‌को याद रखता हुआ भगवान्‌के आज्ञानुसार सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही करता है।

कर्मयोगी फलासक्तिको त्यागकर कर्मोंको ईश्वरार्पण कर देता है, इसलिये उसका कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता।

अन्वेषण

तुम्हें ढूँढ़ने गया शैलपर, तज जगकी ममता-माया।
किंतु तुम्हारे विरहानलमें उसको भी जलता पाया॥
पत्थर-सा दिल पानी होकर नित निर्झर-सा बहता था।
विहगोंके कल कूजनमें वह व्यथा कथा-सी कहता था॥
हो निराश काननमें आया जाना यहीं मिलोगे तुम।
हरे-भरे कुञ्जोंके भीतर रास रचाते होगे तुम॥
घूम-घूम कुञ्जोंमें खोजा देखीं वन-वनकी शाखें।
किंतु न वह छवि मिली, तरसतीं जिसे देखनेको आँखें॥
प्रिय-दर्शनकी चाह दवानल बनकर उसे जलाती थी।
चातक-सा पी-पी रटता था, व्यथा अधिक अधिकाती थी॥
सागरमें सोते हो सुनकर दौड़ा गया उदधिके पास।
वाडव-सी उसके अन्तरमें जलती प्रभु-दर्शनकी प्यास॥
विकल ज्वार-भाटोंके मिससे ऊँचे उठ-उठ गिरता था।
लोट धरापर फेन उगलता तूफानोंसे घिरता था॥
देख अशान्त उसे भी लौटा, आशा उदित हुई मनमें।
एक बार देखूँ तो जाकर शायद मिल जाओ घनमें॥
नाम मात्र घनश्याम रहा वह वहाँ तुम्हारा वास न था।
इसी ग्लानिसे गलता था, वह अन्तरमें उल्लास न था॥
अमिट तुम्हारी विरह-वेदना उसपर रही गिराती गाज।
रोता आँसू बरसाता था तुममें मिल जानेके काज॥
भूल भटक सर्वत्र शान्त हो अपनी कुटियामें आया।
देखा अन्तरकी आँखोंसे, तुम्हें हृदयमें ही पाया॥

—भगवतीप्रसाद साहित्यरत्न

भजनका प्रभाव

(एक भक्त-चरण-रजोऽभिलाषी)

'भजन' शब्द 'भज सेवायाम्' धातुसे बना है। सेवाका अर्थ है किसीके कष्टको लाघव करना या उसे कुछ सुख पहुँचाना। सुख शरीरका और मनका दोनों प्रकारका हो सकता है। किसी भूखेको भोजन कराकर या किसी श्रद्धेयके पैर दबाकर हम उसकी शारीरिक सेवा कर सकते हैं, अथवा किसी चिन्ताग्रस्त-का मन बहलाकर या उसे आश्वासन देकर उसकी मानसिक सेवा कर सकते हैं। जिसकी सेवा की जाती है, उसे प्रसन्नता और सुख होता है। उसकी उस प्रसन्नता और संतोषका प्रभाव हमारी आत्मापर भी बिना पड़े नहीं रहता। अतएव भजनकी पहली सीढ़ी है—सेवा।

सेवा सुननेमें सरल है, पर करनेमें अत्यन्त कठिन। रामचरितमानसमें श्रीभरतलालजीके मुखसे तुलसीदासजीने कहला दिया—'सब ते सेवक धरमु कठोरा'—सेवा-धर्म सब धर्मोंसे कठोर है। एक सतीकी कथा है—'रात्रिको नींदमें ही उसके स्वामीने पीनेके लिये पानी माँगा। वह उठकर गिलास भरकर पानी लायी। पतिदेव सोये हैं, उन्हें पता भी नहीं, पर पत्नी जगाकर उनकी नींदमें बाधा भी नहीं डालना चाहती और यदि सहसा उठकर पति पानी माँगे और उसे न मिले तो भी अधर्म होगा। इसलिये वह रातभर जागकर पानी माँगनेकी आशासे गिलास लिये खड़ी रही। प्रातःकाल उठकर पतिने देखा तो कारण विदित होनेपर उसके हर्ष-विस्मय तथा संतोषका ठिकाना न रहा और पत्नी भी पतिके इस भावको देखकर तन्मय हो गयी। उसी दिनसे पत्नीमें यह शक्ति हो गयी कि वह बिना प्रयास ही दूसरोंके हृदयकी बात जान लेती।' इसे वास्तविक घटना न मानकर एक कहानी ही मान लें, तो भी इसके भीतर मानस-शास्त्रका एक गम्भीर विज्ञान छिपा है। वह है स्त्रीकी तन्मयता और उससे उसकी एक विशेष शक्तिका विकास। यह तो सभी जानते हैं कि हमारी आत्मा अनन्त शक्तिका भंडार है। कब किस अवस्थामें किस प्रकारसे कौन-सी शक्तिका विकास हो जायगा, यह कौन जानता है? पर किसी भी विशेष शक्तिका विकास 'तन्मयता' अर्थात् मनकी वृत्तिके एकाग्र या निरोध होनेपर ही होता है। यह तो जब कभी भी परीक्षा करके देखा जा सकता है।

वाक्-संयम, मनःसंयम, शरीर-संयम—सारी सिद्धियों-का मूल 'संयम' है। एक लैम्पको जलाइये तो बत्ती जलने लगेगी और धूँआ उठने लगेगा। अब उसे संयमरूपी चिमनीसे ढँक दीजिये, तो नियमित प्रकाश-की सिद्धि प्राप्त होगी। अतः किसी भी कार्यको सुचारु-रूपसे सम्पन्न करनेके लिये 'संयम' या 'तप' नितान्त आवश्यक है और यह तप ही है भजन। भजनपर बैठते ही हम मनका, वाणीका और शरीरका संयम या तप करते हैं और अपनी आत्माकी सेवामें तत्पर हो जाते हैं। मनके सारे उत्पात रुकने लगते हैं और अपने कृत्योंपर विचार होने लगता है। मनके सारे कृत्य चित्तमें उदित होने लगते हैं और हमारे विश्वासा-नुसार उनमें जो दुष्कृत्य हैं, उनपर हमें पश्चात्ताप होने लगता है। हम एक ऐसी शक्तिके ध्यानद्वारा शुद्ध, पवित्र, निर्मल और शान्तिके वातावरणका उपभोग करना चाहते हैं, जिसे हम अपनी श्रद्धा और विश्वासके अनुसार अपना परम ध्येय या इष्ट मान लेते हैं। जो जिसका परम ध्येय है, वही उसका ईश्वर है। पार्वतीसे सप्तर्षि कहते हैं—'क्या उस नग्न अमङ्गलवेष शिवको वरण करनेके लिये तुम तप कर रही हो? हम सर्वमङ्गलरूप वैकुण्ठाधिपति सौन्दर्यशाली विष्णु भगवान्से तुम्हारा विवाह करा देंगे।' पार्वती उत्तर देती हैं—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥
× × × ×
अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥

——यही है प्रेम या उच्च सोपानकी भक्ति और इसे ही प्राप्त करना है——भजनका उद्देश्य। चाहे किसी देवतामें, किसी यक्ष-राक्षसमें, किसी मनुष्यमें, किसी चैतन्य या अचैतन्य स्थावर-जङ्गममें, जिसे भी अपने स्वभावके अनुकूल हम अपना ध्येय बना लें, हमें भजनकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। भजनकी सिद्धिका प्राप्त होना यही है कि हम अपने उपास्यदेवके साथ तदाकार हो जायँ। वह विश्वशक्ति सब जगह है—— **'यो मां पश्यति सर्वत्र'**। जैसी भावना, वैसी प्राप्ति। इसमें ऊँच-नीचका कोई प्रश्न उठ ही नहीं सकता। भगवान् अपने एक अंशसे विश्वकी सारी विभूतियोंमें व्याप्त हैं अथवा उनके एक अंशमें सारा विश्व स्थित है। जिसका जो ध्येय है, उसके लिये वही उसकी विभूति है और विश्वेश्वर भगवान् तदनुसार उसे सिद्धि देते हैं एवं उसीमें उसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है। रामायणके उत्तरकाण्डमें काकभुशुण्डिजी गरुड़के प्रति कहते हैं——

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥
× × ×
भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीता रवन॥

उस परमात्माकी कहीं उपमा नहीं है; क्योंकि उसके समान कोई है ही नहीं। जब हम भगवान्‌का ध्यान करने लगते हैं, तब जहाँतक हमारे मनकी गति हो सकती है, जहाँतक हमारी कल्पना जा सकती है, हम एक नित्य सच्चिदानन्दघन 'सत्य, शिव, सुन्दर'के ध्यानमें निमग्न हो जाते हैं। हमारा ध्यान जब पूर्णरूपेण जम जाता है, तब सामनेका कोई भी उपास्य प्रतीक उस समय गौण हो जाता है और मुख्य हो जाता है 'हम-ही-हम'! उस समय शरीरका, मनका भान नहीं रहता। एक अपूर्व आनन्दका अनुभव होता है। पर यह भी मन, बुद्धिसे ही लिया जाता है। एक अवस्था ऐसी भी होती है, जिसका शब्दोंके द्वारा वर्णन सम्भव नहीं। पर है सही। जैसे तृप्तको गीतामें 'आत्मतृप्त', 'आत्मसंतुष्ट' कहा है। उसकी और कोई व्याख्या नहीं। अपनेमें आप ही संतुष्ट। जिसे जो मार्ग भाया, उसीके अनुसार उसने अपने इष्टका ध्यान किया और उसीमें उसे अपने भगवान् मिले। भगवान्‌की महिमा अपार है——

'राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।'

—पर वे भावके वश हो जाते हैं; क्योंकि वे सुखके निधान हैं, जीवोंपर उनकी अपार करुणा है। हममें उन्हें जाननेकी शक्ति नहीं, फिर भी हम अशक्तोंपर उनकी ऐसी दया है कि हम चाहे जैसे ध्यान करें वैसे ही वे हमें मिल जाते हैं——वे 'सर्वभूतमय' जो ठहरे। आत्मा अपने ध्येयमें एकाकार होकर परमात्मस्वरूप हो जाता है। यही है भजनका परम लक्ष्य। यह अवस्था कथनातीत है। इसमें संसारके सारे क्लेश, चिन्ता और दुःखोंका अवसान हो जाता है। भक्त केवट अपने भगवान्‌को पार उतारकर क्या कहता है——

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥

भक्तके उस समय सारे दोष, षडरिपुजनित क्लेश, तीनों प्रकारके—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःख, दारिद्र्य (सब प्रकारकी कामना——यही दरिद्रता है), दावा (सब प्रकारकी हृदयकी जलन) शान्त होकर आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है।

भगवान् ऐसे दयालु हैं कि जो इस प्रकार सदा भजन न करके अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये मौके-बेमौके भी उनका भजन करता है, उसका कार्य भी वे सिद्ध किया करते हैं, पर उसे भजन न कहकर प्रार्थना कहनी चाहिये। यदि भगवान् उसमें भक्तका कल्याण समझते हैं तो उसकी प्रार्थना पूर्ण कर देते हैं, नहीं समझते तो नहीं भी करते। जब किसी प्रार्थनाके करनेपर उसका फल न मिले तो यही समझकर संतोष

करना चाहिये कि भगवान् उसे पूर्ण करना हमारे लिये मङ्गलकारी नहीं समझते। दो शत्रु एक दूसरेके नाशके लिये प्रार्थना करते हैं तो भगवान् क्या दोनोंका ही नाश कर देंगे ? यह तो सम्भव ही नहीं। पर इस प्रकारकी प्रार्थनाको भजन न कहकर मनका विकार ही कहना होगा। मनमें यदि किसी प्रकारका विकार है, किसीके प्रति द्वेष है, घृणा है, इसलिये किसीके विनाशकी कामनासे जो प्रार्थना की जाती है, वह तो प्रार्थना ही नहीं है; क्योंकि ईश्वर सर्वभूतमय है। जो किसीसे घृणा-द्वेष करके उसका विनाश चाहता है, वह तो भगवान्से ही घृणा-द्वेष करता है। ऐसी प्रार्थनाका फल सम्भव है कि हमें घृणाकी ही प्राप्ति हो। सब लोग हमसे घृणा करने लग जायँ। इसीलिये जघन्य कार्य, जिसमें किसी प्राणीकी सेवा न होकर हिंसा होती है, करनेवाले क्रूरकर्मोंसे सब लोग घृणा करने लगते हैं। घृणा करो तो बदलेमें घृणा प्राप्त होगी, प्रेम करो तो बदलेमें प्रेम प्राप्त होगा। यह संसार एक दर्पण है, जैसा चेहरा बनाओगे, वैसा ही दीखेगा। भजनसे अपनेको सत्य, शिव, सुन्दर बनाओ, वैसा ही अपनेको देखोगे।

गीतामें भगवान्ने चार प्रकारके भक्त कहे हैं, यह तो गीताध्यायी सभी लोगोंने पढ़ा होगा। पर ज्ञानी भक्त ही उच्चकोटिका भक्त है; क्योंकि वह सदा **'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'**——सर्वत्र भगवान्को और सबको भगवान्में देखता है। प्रह्लाद अपने पितासे कहते हैं——'मुझमें, आपमें, खड्गमें, खम्भमें—सबमें वही है। पिताजी ! आप भी वही विष्णुरूप हैं, यह जानकर प्रसन्न हों। क्यों क्रोध कर रहे हैं ?' यही है ज्ञानी भक्तकी सच्ची भावना। अपना गला काटनेवाली तलवारमें और गला काटनेको उद्यत हुए पितामें उसे उपास्यदेवके ही दर्शन होते हैं। फिर क्यों न हो उसका नाम प्रह्लाद ? आगे भी आह्लाद, पीछे भी आह्लाद। सदा सर्वत्र आह्लाद-ही-आह्लाद! ऐसे भक्तको सदा आह्लादकी ही प्राप्ति होती रहती है और वही ज्ञानी भक्त है। प्रह्लाद, शुकदेव, सनकादि और नारद ऐसे ही भजनानन्दी हैं, जो सदा भगवान्का गुणानुवाद ही गाया करते हैं, जिनके लिये भगवान्की यह उक्ति है——'न तो मैं वैकुण्ठमें रहता हूँ, न योगियोंके हृदयमें ही। पर जहाँ मेरे भक्त निरन्तर मेरा गायन करते रहते हैं, मैं वहीं रहता हूँ।' जिस समय कोई सच्चा भक्त भगवान्का गायन करने लगता है, उस समय उसी गायनमें भगवान् प्रकट हो जाते हैं। उस विश्वनाथके स्वरमें भक्तके हृदयका स्वर मिल जाता है, हृदय-तन्त्रीके तारोंके बज उठनेसे उसके शरीरके सारे तार बज उठते हैं। कबीरदास कहते हैं——

> रग रग बजे रबाब तन, रोम रोम टंकार।
> सहजहि धुनि लागी रहे, निकसे नाम तुम्हार॥

यह तो नित्य भजनानन्दीकी अवस्था है। एक भक्त होते हैं जिज्ञासु। उद्धव, अर्जुन——ये जिज्ञासु भक्तोंमें गिनाये गये हैं। इन्हें तत्त्वकी जिज्ञासा थी, पर भगवान्का तत्त्व जाननेपर ये भी ज्ञानी हो गये। एक होते हैं आर्त्त, जो किसी भारी विपत्तिके पड़नेपर अपने ध्येयको व्याकुल होकर पुकार उठते हैं। इस पुकारको भगवान् सुनते हैं और यदि उसमें प्रार्थीका मङ्गल समझते हैं तो उसकी पूर्ति भी करते हैं——जैसे जरासंधके बंदीखानेसे आर्त्त बंदी राजाओंको भगवान्ने उबारा। गज और द्रौपदीके उपाख्यान प्रसिद्ध ही हैं, इन्द्रकी वर्षासे व्रजवासियोंकी रक्षा की। अब ऐसे भी एक भक्त या प्रार्थी होते हैं, जो परमात्मासे किसी सुख-भोगकी कामना करते हैं। परमात्मा उचित समझते हैं तो उन्हें वह सुख-भोग देते हैं, अनुचित समझते हैं तो थोड़ी देरके लिये परीक्षार्थ उन्हें दुःखमें भी डाल देते हैं; जैसे एक समय उन्होंने नारदजीको डाल दिया था। रामायणमें नारदजीके मोहकी कथा प्रसिद्ध है, यद्यपि नारदजीको ज्ञानी भक्तोंमें कहा गया है। पर अभिमानका फल बुरा होता है। ज्ञानका अभिमान भी गिरा सकता है। यही नारद-उपाख्यानका सार है। (क्रमशः)

वेणुगीत

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क-सं० ६, पृ० ७८६ से आगे]

श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनकी बात है कि एक बार वे दक्षिणभारत गये। वहाँ एक स्थानपर उन्होंने देखा कि एक ब्राह्मण बैठा हुआ गीताका पाठ कर रहा है और रो रहा है। वह ब्राह्मण पढ़ा-लिखा कम था और अशुद्ध पाठ कर रहा था। नित्यानन्दजी महाप्रभुके साथमें थे। उनके मनमें पाण्डित्यका विशेष गौरव था। महाप्रभु भी उच्चकोटिके पण्डित थे; पर इन्होंने अपना सारा पाण्डित्य भुला दिया था। नित्यानन्दजीको गृहस्थ बनना था; अतः इनका पाण्डित्य भूला नहीं था। वे महाप्रभुकी आज्ञासे संन्यासीसे पुनः गृहस्थ बने।

नित्यानन्दजीने उन पण्डितका पाठ सुना। पढ़े-लिखे लोगोंको व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध शब्द सहन नहीं होता। उन्होंने महाप्रभुसे कहा—'देखिये महाराज! वह अशुद्ध पाठ करता है, जरा उसे समझा दीजिये न!' महाप्रभुजीने कहा कि 'करता है तो करने दीजिये। आपका क्या लेता है?' पर वे माने नहीं और उन्होंने कहा—'अशुद्ध पाठ नहीं होना चाहिये।' महाप्रभुजीने कहा—'तब आप जाकर समझा दीजिये।' नित्यानन्दजीने जाकर ध्यानस्थ ब्राह्मण देवताको हिला-डुलाकर जगाया और कहा—'तुम क्या कर रहे हो?' उसने उत्तर दिया—'महाराज! मैं पाठ कर रहा हूँ।' नित्यानन्दजीने कहा—'अशुद्ध पाठ क्यों करते हो?' ब्राह्मणने कहा—'महाराज! मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ।' नित्यानन्दजीने फिर पूछा—'तो रो क्यों रहे हो?' वह थोड़ी देर तो कुछ बोला नहीं, फिर कहने लगा—'महाराज! ये श्यामसुन्दर जो सामने कुरुक्षेत्रके मैदानमें अर्जुनको उपदेश कर रहे हैं, इनकी भाव-भङ्गिमाको देख-देखकर मेरे आँसू बहने लगते हैं।'

नित्यानन्दजी बड़े भारी प्रेमी थे; परंतु भगवान्की लीला ऐसी थी कि उनकी समझमें उल्टी बात आयी। उन्होंने आकर महाप्रभुसे कहा—'महाराज! वह केवल अशुद्ध पाठ ही नहीं करता, दम्भी भी मालूम होता है। मैंने आँसूकी बात पूछी तो बोला कि कुरुक्षेत्रके मैदानमें मुझे भगवान् और अर्जुन दीख रहे हैं।' महाप्रभुने कहा—'दीखते होंगे।' नित्यानन्दजीने कहा—'महाराज! आप भी ऐसे ही भोले-भाले हैं।' महाप्रभुजीने कहा—'आप एक काम करें, जाकर ब्राह्मणके चरणोंका स्पर्श करें।' नित्यानन्दजीमें पाण्डित्य था; परंतु साथ-साथ अनुगतता—आज्ञाका पालन भी था। उन्होंने जाकर ब्राह्मणके चरणोंका स्पर्श किया। चरण-स्पर्श करते ही वह दृश्य उनके सामने भी जैसा-का-तैसा दीखने लगा। वे चकित हो गये। महाप्रभुने कहा कि 'असली पाठ तो ये ही करते हैं।'

प्रेमकी चर्चा बहुत लोग कर सकते हैं। शांकर वेदान्तकी परीक्षा लेनेवाले विद्वान् लोग वेदान्तकी किसी वस्तुको कहनेमें शेष नहीं रखते। क्या उनमें शंकराचार्य-वाला ज्ञान आ गया? नाटकमें चैतन्य महाप्रभुका अभिनय करनेवाले चाहे अपने अभिनयसे रुला दें; परंतु वे चैतन्यमहाप्रभुके समान प्रेमी थोड़े ही हो गये। सिनेमामें भी प्रेमकी चर्चा बहुत होती है; उपन्यासकार भी प्रेमकी चर्चा बहुत करते हैं; कविलोग भी प्रेमपर कलम तोड़ देते हैं; परंतु **'भगवत्सङ्गिसङ्गस्य'** वह वस्तु कहाँ है? सूरदासमें जो वस्तु थी, वह अन्य कवियोंमें कहाँ है? तुलसीदासके श्रीराम तुलसीदासके ही हैं, दूसरोंके वे श्रीराम नहीं हैं। भगवत्प्रेमियोंके सङ्ग और

प्रेम-चर्चामें दोनों तरहकी बातें होती हैं—सुननेवाले भी उत्कण्ठित रहते हैं और कहनेवालेका अलग महत्त्व है ही ।

(९) 'प्रीतिस्तद्वसतिस्थले'—जहाँ-जहाँ भगवान्‌ने लीलाएँ कीं, जहाँ-जहाँ भगवान्‌ने निवास किया, उन-उन स्थलोंमें आत्यन्तिक प्रीति होना नवाँ लक्षण है। वहाँकी रजमें प्रीति, वहाँके वायुमण्डलमें प्रीति, वहाँके जलकणमें प्रीति, वहाँके पशु-पक्षियोंमें प्रीति होती है। वहाँकी प्रत्येक वस्तु प्रेमको देनेकी सामर्थ्य रखती है। हमलोग लेते नहीं, इसलिये हमें प्रेम नहीं मिलता। यदि हम अपना हृदय प्रेम लेनेके लिये उन्मुक्त कर दें तो हमें प्रेम मिल सकता है।

दोषदर्शी लोग प्रायः कहते हैं कि वृन्दावनमें बहुत दोष आ गये। इसी प्रकार अयोध्यामें भी बहुत दोष आ गये। परंतु जो लोग दोष नहीं देखते, अपितु अयोध्याको श्रीरामकी अयोध्या, वृन्दावनको श्रीकृष्णका वृन्दावन देखते हैं, उन्हें आज भी वहाँके रज-कणमें श्रीराम एवं श्रीकृष्ण मिलते हैं। ये स्थल भगवत्-सङ्गके द्वारा निर्मित होते हैं। यह सम्भव है कि उसके निर्माण होनेके पश्चात् वहाँके लोग दूसरे हो जायँ, बदल जायँ। पर प्रेमीलोग उस स्थानको पहचान लेते हैं। चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य-जैसे लोगोंने जा-जाकर वृन्दावनमें इन स्थानोंको देखा और जहाँ-जहाँपर भगवान्‌ने लीलाएँ की थीं, उन स्थलोंका जीर्णोद्धार किया, पुनः उनकी प्रतिष्ठा की। उन महापुरुषोंके भावलोकके सामने वे लीलाएँ पुनः प्रकट हो गयीं। उन्हें दिखायी दीं। इसी प्रकार कितनी ही बुराई कहीं हो जाय; पर यदि वहाँपर भगवत्प्रेमका कण भी वर्तमान है और उसे लेने योग्य हमारी चाह है, हृदय है तो वह मिलेगा, मिलेगा, मिले बिना रहेगा नहीं।

प्रेमीका—साधकका यह कर्तव्य होता है कि वह भगवान्‌के गुण-गान और गुण-श्रवणमें ही अपनी रति रखे।

> श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
> रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि 'भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी बात सुनूँगा नहीं, दूसरी बात कहूँगा नहीं और दूसरेको देखनेके लिये यदि आँखें जायँगी तो उन्हें रोक लूँगा तथा ईश्वर (श्रीराम) के सामने ही मस्तक झुकाऊँगा।'

'अक्षण्वतां फलमिदम्' की यह भूमिका है। आँखें उसीकी सफल हैं, जो दूसरी वस्तुको देखे नहीं।

श्यामके रंगमें रँगी हुई एक गोपी कहती है—

> कानन दूसरौ नाम सुनैं नहिं एकहि रंग रँगौ यह डोरौ।
> धोखेहु दूसरौ नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरौ॥
> ठाकुर चित्तकी बृत्ति यहै, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरौ।
> बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ, जो साँवरौ छाड़ि निहारति गोरौ॥

जो मायाके उज्ज्वल प्रकाशको तो देखे और इसके अंदर समाये हुए कृष्णवर्ण घनश्यामको न देखे, उसकी आँखें फूटी हुई हैं। आँखोंका फल तो यही है कि वे बस, नित्य-निरन्तर प्रत्येक वस्तुमें सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा श्यामसुन्दरको देखा करें। जो जितना उन्हें देखेगा, उतना ही उसका अन्तर उज्ज्वल होता जायगा।

> बलिहारी वा प्रेमकी गति न समझै कोय।
> ज्यों-ज्यों डूबै स्याम रँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय॥

यह साँवरा रंग ऐसा है कि इसमें डूबते चले जाओ। कालेमें डूबो तो उज्ज्वल हो जाओगे और सफेदमें डूबो तो काले हो जाओगे। यह जगत् बड़ा उज्ज्वल दिखायी देता है। भोग भी बड़े उज्ज्वल दीखते हैं; परंतु ये अन्तर्मलिन होते हैं।

> **विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।**
> **परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥**
> (गीता १८। ३८)

जितने भोग-सुख हैं, इनके लिये भगवान्‌ने कहा है——भोगनेके समय तो ये प्रतीत होते हैं अमृतके समान——बड़े मीठे **'अमृतोपमम्'**——पर **'परिणामे विषमिव'**——परिणाममें जहरका काम करते हैं। ये भोग बाहरसे उज्ज्वल हैं, अंदरसे बड़े कुटिल—बड़े काले। अन्तर उज्ज्वल—शुद्ध होना चाहिये। बाहरके दिखावेमें शुद्धि नहीं। भोगोंमें, विषयोंमें उज्ज्वलताको देखना और भगवान्‌की श्यामतामें भरी जो परम नित्य उज्ज्वलता है उसे न देखना ठीक नहीं।

अपनी चर्चा चल रही थी——

शान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः ॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले ।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

——ये नौ साधन गोपियोंने पहले कर लिये थे। जब किसी जनमें भावका अङ्कुर पैदा होता है, तब उपर्युक्त नौ प्रकारके अनुभावोंके बाह्य लक्षणोंकी उसमें उत्पत्ति होती है। श्रीगोपाङ्गनाएँ इन सारे साधनोंके फलरूप भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त कर चुकी हैं——यह पूर्वरागकी लीला है।

गोपियोंने परस्पर कहा—'सखियो ! ये श्रीदाम-सुबलादि अपने समवयस्क गोप-बालकोंसे घिरे हुए और गायोंके झुंडको आगे करके नाना प्रकारके मधुर संकेत करते हुए एक वनसे दूसरे वनमें गायोंको ले जाते हैं। उन व्रजराजपुत्र श्रीकृष्ण और बलरामकी मुरली-सेवित और स्निग्ध कटाक्ष-समन्वित माधुरीको जिन नयनोंके द्वारा पी लिया गया है; जिन नेत्रोंने इस रूपमाधुरीका आस्वादन किया है बस, वे ही नयन सार्थक हैं। इसके सिवा नयनोंकी कोई सार्थकता नहीं।' गोपियोंने देखा नहीं कहा, पीया कहा।

हमलोगोंको जो आँखें मिली हैं, ये भोगोंको देखनेके लिये नहीं मिली हैं, कुमार्गमें ले जानेवाले पदार्थोंका दर्शन करनेके लिये नहीं मिली हैं। आँखें मिली हैं सुपथपर चलनेके लिये। आँखें ऐसे विषयोंको देखें, जो श्यामसुन्दरको, भगवान्‌को हमारे मनमें ला दें, जो विषय भगवान्‌से विमुख करें, उन्हें कभी न देखें।

साधनामें कहा गया है कि साधक अंधा, बहरा, गूँगा, लूला एवं लँगड़ा बन जाय।——ये पाँच प्रकारके साधनके नियम माने गये हैं। भगवान्‌के अतिरिक्त जगत्‌की वस्तुओंको देखनेमें अंधा बन जाय। भगवच्चर्चाके सिवा और चर्चा सुननेमें बहरा बन जाय। भगवान्‌की बातके सिवा और बात कहनेमें गूँगा बन जाय। भगवान्‌की सेवाके अतिरिक्त और विषय-सेवन करनेमें लूला बन जाय। भगवान्‌के स्थानोंके सिवा भोग-स्थानोंमें जानेमें लँगड़ा बन जाय। अर्थात् सभी इन्द्रियाँ केवल भगवान्‌में लगी रहें।

भगवान् जब आँखोंमें बस जाते हैं तब और कोई वस्तु सुहाती नहीं——**'जिन आँखिनमें वह रूप बस्यौ, उन आँखिन सौं फिर देखियै का।'** श्रीगोपाङ्गनाएँ जब एकान्तमें रहतीं, तब वे परस्पर अपने प्रियतम भगवान्‌की चर्चा करतीं। अन्य चर्चाका विषय उनके पास रहा ही नहीं। वही कहना और वही सुनना। दार्शनिक लोग दार्शनिक भाषामें ही बोलते हैं; परंतु ये गोपाङ्गनाएँ अपने गाँवकी भाषामें कहने लगीं——'यह हमारा कन्हैया काला कैसे हो गया ? सब तो गोरे हैं, नन्दबाबा भी गोरे, यशोदा मैया भी गोरी, रोहिणी मैया भी गोरी, दाऊजी भी गोरे, उपनन्द-सनन्द सभी गोरे हैं। फिर यह कन्हैया ही काला क्यों ?' बुद्धिवादी लोग उसके लिये कुछ भी कहें, उनकी बातोंसे गोपियोंको कोई मतलब नहीं। वे कहनेवालोंकी बात न सुनती हैं और न इसकी परवाह ही करती हैं, न दूसरोंके अनुभवसे

उन्हें कोई मतलब है। दूसरी सखीने उत्तर दिया—सीधी-सी तो बात यह है—

कजरारी अँखियानमें बसो रहत दिन-रात।
प्रीतम प्यारो हे सखी ताते साँवर गात॥

हमारी काजलभरी आँखोंमें हमारा प्रियतम प्यारा निरन्तर बसता है, अतः काजल लग-लगकर वह काला हो गया। इसमें कौन आश्चर्यकी बात है? वास्तवमें बात ऐसी ही है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'यो मां पश्यति सर्वत्र', 'वासुदेवः सर्वमिति'**—शास्त्रोंमें ये जो भगवान्‌के सिद्धान्त-वाक्य हैं, वे गोपियोंके केवल मनमें ही नहीं, आँखोंमें भी आ गये हैं। उनकी आँखोंने दूसरेको देखना बंद कर दिया, अर्थात् हमारी आँखोंकी पुतलीमें वही चीज दिखायी देती है, जो सामने होती है। गोपियाँ सर्वत्र श्यामसुन्दरके दर्शन करती हैं; अतः उनकी आँखोंकी पुतलीमें सदैव श्यामसुन्दर बसे रहते हैं। उद्धवजीने जब उनसे कहा कि तुमलोग मनमें दूसरेका ध्यान कर लिया करो; तब वे बोलीं कि मनमें जगह ही खाली नहीं है, फिर ध्यान कैसे करें?—

चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥

चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते—सब समय स्वप्नमें भी वह श्यामसुन्दरकी मूर्ति क्षणभरके लिये किसी अवस्थामें भी इधर-उधर नहीं हटती। गोपियोंकी जादूभरी आँखोंके सामने जो भी आता है वह श्रीकृष्ण ही हो जाता है। मायाका यह संसार असत् है या वास्तवमें सब भगवान् है—यह बुद्धिका विचार है। वह बुद्धिके द्वारा भगवान्‌को सर्वत्र देखता है, परंतु गोपीकी जड इन्द्रिय आँख श्रीकृष्णको देखती, कान उन्हींको सुनते, त्वचा उन्हींका स्पर्श करती और जिह्वा उन्हींको चखती है।

यह बड़े दार्शनिक सिद्धान्तकी बात है कि गोपियोंकी आँखोंमें लगे काजलसे लग-लगकर श्यामसुन्दर काले हो गये। **'अक्षण्वतां फलमिदम्'** आँखवालोंकी आँखका यही फल है कि वे सर्वत्र आँखोंसे भगवान्‌को देखना आरम्भ कर दें।

हिय फाटहुँ फूटहुँ नयन जरउ सो तन केहि काम।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

वे आँखें फूट जायँ जिन आँखोंसे भगवान् न दीखें, आँखें फूटनेपर संसारका कुछ दीखेगा ही नहीं, सब नष्ट हो जायगा। संसार तो नष्ट होनेवाला ही है, इसे पहलेसे ही नष्ट हुआ मान ले—**'अंतहि तोहि तजैंगे पामर तू न तजै** अबही तें।' संसारकी ममता छोड़ दे। **'ममेति बन्धनः'** ममताको लेकर बन्धन होगा ही, दुःख होगा ही। सारी ममता भगवान्‌से जोड़ दे। जहाँ सम्पूर्ण ममता भगवान्‌से जुड़ी कि समता अपने-आप आ जायगी।

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भव पार॥

भगवान्‌में अनन्य ममता हो और वह ममता प्रेम-मूलक हो, भोग-मूलक नहीं।

भगवान्‌का प्रेम मानव-जीवनका सबसे ऊँचा और सबसे श्रेष्ठ ध्येय है। भगवान्‌के स्वरूप-ज्ञानको प्राप्त करके भगवान्‌के प्रेममें अपने-आपको खो देना प्रेमका स्वरूप है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि-ज्ञानी ब्रह्मविद् परमहंस-शिरोमणि भी भगवान्‌का प्रेम चाहते हैं। वे प्रेम-प्राप्तिके लिये घोर तपस्या करते हैं। यह भगवत्प्रेम अनायास भगवत्कृपासे किसीको मिल जाय—यह बात अलग है। भगवत्कृपासे सब कुछ सम्भव है; परंतु प्रेममें सबसे पहली वस्तु है त्याग। संसारमें भी लौकिक त्याग किये बिना प्रेम नहीं मिलता। परस्पर भाई-भाईमें भी त्याग होगा तो प्रेम होगा। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ आनन्द होगा। जहाँ त्यागके बदलेमें ग्रहणकी चेष्टा होगी, छीना-झपटी होगी, वहाँ लड़ाई होगी। प्रेमके स्थानपर द्वेष होगा। भगवत्प्रेम

तो उत्तम-से-उत्तम परम फलोंका फल है। अतएव उसके लिये परम त्यागकी आवश्यकता है। प्रेम त्यागके मार्गसे, समर्पणके मार्गसे स्वसुख-परित्यागपूर्वक प्रियतम-सुखके मार्गसे विकसित होता है और नित्य-निरन्तर असीमताकी ओर जाता रहता है। इस प्रेम-राज्यमें प्रवेशके पूर्व ऊपर बताये नौ अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं।

श्रीगोपाङ्गनाएँ केवल भावाङ्कुरवाली प्रेमिका नहीं हैं। उनमें भगवान्के प्रेमका उदय हो गया है, वे भाव-स्वरूपा हैं। इन भावोंका जहाँ पूर्ण प्राकट्य है उसका नाम महाभाव है। महाभावस्वरूपा श्रीराधाजी हैं। गोपीजन-समूह, जिसमें श्रीराधाजी मुख्य हैं, इस वंशी-निनादको सुनकर भावोन्मत्त हो जाता है। वे परस्पर कथोपकथन करती हैं, वंशीध्वनिका वर्णन करती हैं। इसीका नाम वेणुगीत है। (क्रमशः)

मानसिक शक्तियोंका विकास

(प्रो० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्०ए०)

मनुष्यके मनमें अनेक प्रकारकी शक्तियाँ हैं। वह अपनी शक्तियोंको अपनी भावनाके अनुसार विकसित करता है। जो व्यक्ति अपने विषयमें जैसा विचार करता है, वह अपने-आपको वैसा ही बना लेता है। जिस व्यक्तिका जैसा निश्चय है, वह उसी रूपका है। अपना निश्चय मनुष्यके आत्मनिर्देशका कारण बन जाता है। यह आत्मनिर्देश मनुष्यको उसी ओर ले जाता है और उसकी शक्तियोंको उसी प्रकारसे विकसित करता है जिस तरहका निश्चय होता है।

निश्चयका आधार अपने-आपके विषयमें ज्ञान है। अज्ञानावस्थामें किया गया कोई भी निश्चय निर्मूल और व्यर्थ होता है। जितना ही हम अपने विषयमें जानकारी बढ़ाते हैं, हमारा उतना ही अधिक उत्तम निश्चय होता है। हमारी मानसिक शक्तियाँ उसीके अनुसार विकसित होती हैं। जो व्यक्ति अपने-आपको जाननेकी चेष्टा नहीं करता और संसारकी साधारण झंझटोंमें फँसा रहता है, उसके विचार अपने-आपके विषयमें कुछ भी स्थिर नहीं रहते। वह अपने-आपके विषयमें वैसा ही सोचने लगता है जैसा कि दूसरे लोग उससे सोचवाना चाहते हैं। अपने विचारोंपर उसका कुछ भी नियन्त्रण नहीं रहता। जब दूसरे लोग उसके विषयमें सोचने लगते हैं कि वह बड़ा पतित है, दयनीय है, अथवा दुःखी है, तब वह भी अपने विषयमें वैसा ही सोचने लगता है। बहुत-से मनुष्य समयके पूर्व इसलिये मर जाते हैं कि वे अपने विषयमें बाहरसे आनेवाले निर्देशोंका सामना नहीं कर पाते। उनकी इच्छा-शक्ति निर्बल रहती है। जैसी कल्पनाएँ दूसरे लोग उनके मनमें उठाना चाहते हैं, वैसी ही कल्पनाएँ उनके मनमें उठने लगती हैं। इस प्रकार वे अपनेको दुःखी, पागल और अल्पायु बना लेते हैं। जबतक मनुष्य अपना आत्मज्ञान नहीं बढ़ाता, तबतक उसका निश्चय निराधार और डावाँडोल रहता है। अतएव मनुष्यको बार-बार अपने विषयमें चिन्तन करना चाहिये।

आधुनिक विज्ञानने अणुकी शक्तिकी खोज की है। संसार-का सबसे बड़ा अस्त्र 'अणु-बम' है। इस अणु-शक्तिकी खोज बहुत दिनोंसे हो रही थी। वैज्ञानिकोंको यह अंदाज लगा था कि अणुमें इतनी अधिक शक्ति है कि उसके द्वारा संसारका कोई भी कार्य सरलतासे किया जा सकता है। प्रत्येक अणुका एक विशेष प्रकारका संघटन है। एक अणु एक सूर्य-मण्डलके समान है। जिस प्रकार सूर्य-मण्डलमें एक सूर्य होता है और उसके पास नक्षत्र स्वयं घूमा करते हैं, उसी प्रकार एक अणुके भीतर एक

न्यूक्लियस होता है, जो स्थिर रहता है अथवा अपनी कीलपर ही घूमता है और उसके आस-पास घूमनेवाले 'एलेक्ट्रोन' नामक परमाणु होते हैं। अणु विभिन्न प्रकारके होते हैं। परमाणु किसी अणुमें अधिक संख्यामें तो किसी अणुमें कम संख्यामें होते हैं।

अणुके संघटनको तोड़ना अति कठिन है। इसके लिये वैज्ञानिकोंने एक विशेष प्रकारकी 'साइक्लोटोन' नामक मशीनोंका भी आविष्कार किया। अणु-शक्तिकी पहचान पहले-पहल जर्मन वैज्ञानिकोंने की। लड़ाईके समय अणुको तोड़नेके अनेक प्रयास वहाँ होते रहे। अमेरिकाके वैज्ञानिक भी इस प्रयोगको उसी समय अपने यहाँ कर रहे थे। अनेक प्रयोगोंके बाद अनेक सुविधाओंके कारण अमेरिकाके वैज्ञानिक ही अणुकी शक्तिको अपने उपयोगमें ला सके। यह शक्ति इतनी अधिक है कि यदि उसे विनाशकारी काममें लाया जाय तो संसारभरके सभी बड़े नगरोंका विनाश दो ही दिनमें हो जाय और यदि इस शक्तिका सदुपयोग किया जाय तो संसारके लोग दुर्लभ वस्तु प्राप्त कर लें। अभीतक तो विनाशकारी कामोंमें ही इस शक्तिका प्रयोग हुआ है, न जाने कब उसे मानव-कल्याणके काममें लाया जायगा।

यह हमारा आत्मा छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा है, जिस प्रकार अणु, जिसे अणुवीक्षण यन्त्रसे भी नहीं देखा जा सकता, महान् शक्तिशाली है। अणु, एग और आत्मा—ये तीनों शब्द उस शक्तिका बोध कराते हैं, जो कल्पनातीत है। आश्चर्यकी बात है कि अणु-शक्तिके विषयमें तो वैज्ञानिकोंने इतना अधिक आविष्कार कर डाला, पर आत्माकी शक्तिके विषयमें, जिसने वास्तवमें अणुशक्तिकी खोज की, कुछ भी आविष्कार नहीं किया। इतना ही नहीं, हम अपने वैज्ञानिक ज्ञानकी वृद्धिके साथ अपने-आपको और भूलते जा रहे हैं।

आत्माकी शक्ति वैसी ही विचित्र है जैसी अणुकी। इस प्रकारके निश्चयमें तो कोई भी संदेह होना ही नहीं चाहिये। हमारा शरीर ही अनेक अणुओंका बना है। इन अणुओंमें कितनी शक्ति केन्द्रित है—इसकी कल्पना कौन कर सकता है? दुबले-से-दुबला मनुष्य यदि चाहे तो अपने अणुओंकी शक्तिसे संसारभरको नष्ट कर सकता है। पर मनुष्य शरीरमात्र नहीं है। यह चेतन प्राणी है और उसमें अपने-आपको क्रियावान् करने एवं नियन्त्रित रखनेकी शक्ति है। इतना ही नहीं, वह अपने-आपको जान सकता है। ये शक्तियाँ जड अणुमें नहीं हैं। जड अणु न तो स्वयं गतिमान् हो सकता है और न उसमें आत्मज्ञानकी शक्ति ही है। जीवित अणुमें यह शक्ति है; पर उसमें अपने-आपको जाननेकी शक्ति नहीं है। अतः उसमें आत्मनियन्त्रणकी भी योग्यता नहीं है। चेतन अणु, जो मनुष्यके रूपमें रहता है, न केवल शक्तिकेन्द्र है, प्रत्युत वह क्रियावान् एवं ज्ञानवान् भी है। अपने-आपके विषयमें चिन्तन न करनेके कारण ही वह अपने-आपको दयनीय बना लेता है। आत्म-ज्ञानके अभावमें बाहरी विचार मनुष्यके मस्तिष्कमें स्थान पा लेते हैं। इन विचारोंके कारण ही मनुष्य अपने-आपको संसारका एक तुच्छ प्राणी समझने लगता है।

मनुष्य एक चेतन अणु है। अणुशक्तियोंको बाहर निकालनेके लिये दूसरे लोगोंको प्रयत्न करना पड़ता है। स्वयं अणु न तो अपनी शक्तिका ज्ञान ही रखता है और न उस शक्तिको प्रकाशित ही कर सकता है। जड अणुकी शक्तियोंको प्रकाशित करनेके लिये चैतन्य अणुकी सहायताकी आवश्यकता है। चैतन्य अणु अपनी शक्ति अपने-आप जान सकता है। वह स्वयंको मनचाहा बना सकता है। इस कार्यमें लगन भरकी आवश्यकता है। जिस प्रकारकी लगन वैज्ञानिकोंने जड अणुकी शक्तिकी खोजमें दिखायी, उससे कहीं अधिक लगन चैतन्य अणुकी शक्तिका पता लगानेमें आवश्यक है।

आत्मज्ञान संसारका सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। इससे मौलिक कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। पर यह उसे ही प्राप्त होता है जो धुनका पक्का है।

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[पराधीनतासे छूटनेका उपाय]

पराधीनता सबको बुरी लगती है। पराधीन मनुष्यको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' (मानस १। १०१। ३) ऐसा होनेपर भी मनुष्य दूसरेसे सुख चाहता है, दूसरेसे मान चाहता है, दूसरेसे प्रशंसा चाहता है, दूसरेसे लाभ चाहता है—यह कितने आश्चर्यकी बात है! वस्तुसे, व्यक्तिसे, परिस्थितिसे, घटनासे, अवस्थासे जो सुख चाहता है, आराम चाहता है, लाभ चाहता है उसे पराधीन होना ही पड़ेगा, वह बच नहीं सकता, चाहे ब्रह्मा हो, इन्द्र हो, कोई भी हो। मैं तो यहाँतक कहता हूँ कि भगवान् भी बच नहीं सकते। जो दूसरेसे कुछ भी चाहता है, वह पराधीन होगा ही।

परमात्माको चाहनेवाला पराधीन नहीं होता; क्योंकि परमात्मा दूसरे नहीं हैं। जीव तो परमात्माका साक्षात् अंश है, परंतु परमात्माके सिवा दूसरी चीज हम चाहेंगे तो पराधीन हो जायँगे; क्योंकि परमात्माके सिवा दूसरी चीज अपनी है नहीं। दूसरी चीजकी चाहना होनेसे ही परमात्माकी चाहना पैदा नहीं होती। अगर दूसरी चीजकी चाहना न रहे तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाय।

कुछ भी चाहना हो, वह चाहना दरिद्रताको ही सिद्ध करती है। अतः मुफ्तमें दरिद्रताको क्यों खरीदते हो! अगर सुखी होना चाहते हो तो दूसरेसे सुख मत चाहो। दूसरेसे हमें लाभ होगा, यह खाता भीतरसे उठा दो। दूसरेसे कुछ नहीं हो सकता। दूसरेसे कुछ भी चाहनेवाला क्या पराधीनतासे बच सकता है? क्या वह स्वतन्त्र हो सकता है? इसलिये यह बात पक्की कर लो कि कोई भी चाहना हम नहीं रखेंगे। परमात्मासे भी किसी चीजकी चाहना नहीं रखेंगे।

जो अपनेको उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुके अधीन मानेगा, वह सुखी कैसे होगा? क्योंकि स्वयं वह उत्पन्न और नष्ट होनेवाला नहीं है। स्वयं अविनाशी है। एक और विलक्षण बात यह है कि जो दूसरेसे चाहता है, वह वास्तवमें अनधिकारी है, अधिकारी है ही नहीं। जैसे, जो दूसरेसे सम्मान चाहता है, वह सम्मानके लायक नहीं है। जो सम्मानके योग्य होगा, उसे सम्मानकी चाहना न होगी। तुम ख्याल करो कि अठारह अक्षौहिणी सेनामें, जिसमें सब क्षत्रिय-ही-क्षत्रिय हैं, स्वयं क्षत्रिय होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णका एक व्यक्तिका सारथि बन जाना, उसके रथके घोड़े हाँकना कितने आत्म-तिरस्कारकी बात है! घोड़े हाँकना क्या बड़ा काम है? क्या यह सम्मानकी बात है? परंतु उन्हें ऐसा काम करनेमें शर्म नहीं आती। वे सम्मानके लायक हैं, इसलिये उनमें आत्म-सम्मानकी कामना नहीं है। वे सम्मानके लायक हैं, इसका क्या पता? उधर सबसे पहले भीष्मजी शङ्ख बजाते हैं और इधर सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्ण शङ्ख बजाते हैं! कारण कि कौरव-सेनामें सबसे मुख्य भीष्मजी हैं और पाण्डवसेनामें सबसे मुख्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

जिसे सम्मानकी इच्छा रहती है, वह सम्मानका गुलाम है, सम्मानके लायक है ही नहीं। जिसे चेलेकी इच्छा रहती है, वह चेलेका गुलाम (चेला) है, गुरु है ही नहीं। जिसे धनकी इच्छा रहती है, वह धनका गुलाम है, धनका मालिक है ही नहीं। अतः इच्छाको मनसे निकाल ही देना चाहिये।

❋

जीवात्माके लिये आया है—

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
(मानस ७। ११६। १)

और ब्रह्मके लिये कहा गया है—

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
(मानस १। २२। ३)

अतः जो आनन्दराशि ब्रह्म है, उसीका साक्षात् अंश यह जीवात्मा है। दोनोंके समान लक्षण बताये गये हैं। ऐसा होते हुए भी जीव तुच्छ चीजोंकी चाहना करे, यह कितनी बेइज्जतीकी बात है! कितना बड़ा इसका पद है! कितना इसका अधिकार है! कितना इसका महत्त्व है! परंतु तुच्छ चीजोंकी इच्छा करता है, उनके मिलनेसे राजी होता है, उन चीजोंसे अपनी इज्जत मानता है, बेइज्जतीमें इज्जत मानता है! कहाँ चली गयी अक्ल सारी? इसमें जितनी शङ्काएँ हों, आप पूछें।

श्रोता—शङ्का तो कोई नहीं, पर सामने जो राजा-महाराजा दीखते हैं………!

स्वामीजी—जो दीखता है, वह नाशवान् है। आप बतायें कोई अविनाशी दीखता है क्या? सामने सब नाशवान्-ही-नाशवान् दीखता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, राज्य, पद, अधिकार आदि जो कुछ भी दीखता है, चाहे इन्द्रासन हो क्यों न दीखता हो, वह सब-का-सब नाशवान् है।

श्रोता—महाराजजी! सङ्गका असर पड़ता ही है। ऐसा कोई सामने देखनेमें नहीं आता, जो सम्मान न चाहता हो!

स्वामीजी—मैं कहता हूँ, आप स्वयं मान लें। दूसरेको देखनेकी जरूरत ही क्या है! यह बात तो आप तब कह सकते हैं कि किसीको भोजन करते देखकर आपको भूख लग जाय! अगर दूसरेको देखनेसे असर पड़ता है, तो दूसरेको भोजन करते देखकर भूख लगनी चाहिये और दूसरेको भोजन करते न देखकर भूख नहीं लगनी चाहिये। दूसरेको जल पीते देखकर प्यास लगनी चाहिये और दूसरेको जल पीते न देखकर प्यास नहीं लगनी चाहिये।

भेड़चाल संसार है, एक एक के लार।
भिष्टा पर भागी फिरे, कैसे होय उद्धार॥

यह तो भेड़चाल है कि दूसरा चाहे तो मैं चाहूँ। दूसरा नरकोंमें जाय, तो फिर आप भी नरकोंमें पधारें! क्या यह मनुष्यपना है? जिसके मनमें सम्मान आदिकी इच्छा है, उसकी कितनी इज्जत है और जिसके मनमें उसकी इच्छा नहीं है, उसकी कितनी इज्जत है—यह आपको दीखता है कि नहीं? जिसके मनमें सम्मानकी, धनकी इच्छा नहीं है, जो कुछ भी नहीं चाहता, उसकी बेइज्जती हो सकती है क्या? 'जिनको कछू न चाहिये, सो साहनपति साह'। लोग उसके आगे नतमस्तक हो जायँगे!

भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे कहते हैं कि 'तू धनिक है और मैं तेरा कर्जदार हूँ, तू मुझसे खत लिखा ले!' जो ले तो ले, पर देनेके लिये पासमें हो नहीं, वही खत लिखाया करता है। भगवान् कहते हैं कि 'हे हनुमान्! मैं तेरा बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ, मैं दे नहीं सकता, इसलिये तू खत लिखा ले। मैं तेरा कर्जदार हूँ।' कर्जदार होनेमें कारण क्या है? भगवान् इसका स्पष्ट उत्तर देते हैं—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥
(वा० रा० ७। ४०। २४)

—तुमने जो मेरा उपकार किया है, यह कर्जा मेरेपर ही रहने दे। मैं कर्जा उतारना नहीं चाहता। मैं तो सदा ही कर्जदार बना रहना चाहता हूँ। कारण कि जो उपकारका बदला चुकाना चाहता है वह

विपत्ति चाहता है कि इसपर विपत्ति आये तो मैं इसका उपकार करूँ, इसकी सहायता करूँ। तुझे बाप घरसे निकाल दे, स्त्रीको राक्षस ले जाय, साथ देनेवाला कोई न हो, तब मैं तेरी सहायता करूँ! अतः तुझपर कभी विपत्ति आये ही नहीं और मैं सदा ही तेरा कर्जदार बना रहूँ! इस प्रकार अगर मनमें कोई भी चाहना न हो, तो भगवान् ऋणी हो जायँ! भगवान् शंकरने श्रीरामकी सेवा करनेके लिये हनुमान्जीका ही रूप धारण क्यों किया? उन्होंने सोचा कि सेवा करनेके लिये बन्दरके समान कोई नहीं हो सकता; क्योंकि उसे न रोटी चाहिये, न कपड़े चाहिये, न मकान चाहिये; कुछ भी नहीं चाहिये। पत्ते खा ले, वृक्षोंपर रहे और कपड़ोंकी जरूरत नहीं! छोटा-से-छोटा और बड़ा-से-बड़ा सब काम श्रीरामका करेंगे, और लेंगे कुछ भी नहीं!

जब राक्षसोंने सबको मूर्च्छित कर दिया, तब सबसे पहले जाम्बवान्जी जगे। जाम्बवान्ने जगते ही पूछा कि हनुमान् जीवित हैं या नहीं? कितनी विलक्षण बात है! हनुमान्जी जीवित हैं तो सब जी जायँगे, चिन्ताकी कोई बात नहीं। इस प्रकार सबके प्राण हनुमान्जीके अधीन हैं, परंतु उनकी भी पोल बताऊँ आपको! जब हनुमान्जी संजीवनी लानेके लिये चले, तब उन्होंने अपने बलका बखान किया कि अभी लेकर आता हूँ—'चला प्रभंजनसुत बल भाषी॥' (मानस ६।५५।१) इससे क्या हुआ? रातके समय प्यास लग गयी और कालनेमि राक्षससे ठगे गये, फिर संजीवनीका पता नहीं लगा और संजीवनी ले आये तो भरतजीका बाण लगा! परंतु जब दिनके समय लङ्कामें आग लगा दी, तब प्यास नहीं लगी! कारण क्या था? जब लङ्कामें गये तो पहले रघुनाथजीको याद किया—'बार बार रघुबीर सँभारी' (मानस ५।१।३)।

जब हनुमान्जी सीता माताके पास गये तो सामने फल लगे देखकर उन्हें भूख लगी। माँको देखते ही बालकोंको भूख लग जाया करती है और माँके मनमें भी आ जाता है कि कुछ खिला दूँ। सीता माताने सोचा कि यह बालक है, इसे कोई राक्षस खा जायगा! इसलिये कहा कि 'न बेटा! हाऊ खा जायगा!' हनुमान्जीने कहा कि 'माँ! मुझे राक्षसोंका भय नहीं है; अगर तुम सुख मानो, मनमें प्रसन्न हो जाओ, तो फल खा लूँ—'तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं॥' (मानस ५।१६।४)। फल भी खाना है, तो माँकी राजीके लिये! माँने कहा कि 'बेटा! रघुनाथजी महाराजको याद करके मीठे-मीठे फल खाओ'—'रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु' (मानस ५।१७)। हनुमान्जीने फल खाया और राक्षसोंको अच्छी तरह मसल दिया।

जब हनुमान्जी छिपकर लङ्कामें प्रवेश कर रहे थे, तब लङ्किनीने उन्हें देख लिया और रोक दिया। हनुमान्जीने उसे मुक्का मारा। लंकिनी बेचारी तो अपनी ड्यूटीपर पक्की थी, उसे मुक्का मार दिया, यह कोई न्याय है? अनजान आदमीको रोकना तो पहरेदारका कर्तव्य है। श्रीगंगासिंहजी महाराजकी एक बात मैंने सुनी है। एक बार वे मामूली आदमी बनकर पहरेदारके पास गये और कहे कि 'मुझे भीतर जाने दो।' पहरेदारने मना कर दिया कि 'नहीं जाने देंगे।' गंगासिंहजीने दो रुपये निकाले और कहा कि 'ये दो रुपये ले लो, मुझे भीतर जाने दो।' पहरेदारने उन्हें जोरसे एक थप्पड़ लगाया! वे चुपचाप पीछे लौट गये। सुबह उस पहरेदारको उन्होंने बुलाया और कहा कि 'अरे! इतनी जोरसे थप्पड़ मारा करते हैं क्या?' तात्पर्य यह है कि यह पहरेदारका अधिकार है। गंगासिंहजी भी

कुछ कह नहीं सके कि तुमने थप्पड़ कैसे मारा ? उनके मनमें तो यह आया कि ऐसे ईमानदार आदमीको अच्छी जगहपर रखना चाहिये; मुझसे गलती हुई कि ऐसे आदमीको मामूली पहरेपर रखा! परंतु हनुमान्‌जीने लङ्काकी पहरेदार लंकिनीको मुक्का मारा ! कारण क्या था ? लंकिनीने कहा—'चोर मेरा आहार होता है—'मोर अहार जहाँ लगि चोरा' (मानस ५ । ३ । २)। इसपर हनुमान्‌जीने उसे मुक्का मारा कि अगर चोर तेरा आहार होता है तो तूने सीताजीको चुरानेवाले रावणको क्यों नहीं अपना आहार बनाया ? इतनी जोरसे मुक्का मारा कि उसके मुखसे खून बहने लगा और वह कहती है कि आज सुख मिला !—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥
(मानस ५ । ४)

कारण कि उसकी दृष्टि अपने शरीरकी तरफ नहीं है, प्रत्युत सत्सङ्गसे होनेवाले लाभकी तरफ है ।

पतित-पावनी गङ्गाका अवतरण-सौन्दर्य एवं महिमा

(पं० श्रीरंगनाथजी 'राकेश')

भगवती गङ्गाकी महिमा अपार है । इस सम्बन्धमें निगमोंके कल्पतरु 'श्रीमद्भागवत'का निम्नलिखित श्लोक बड़े महत्त्वका है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभूद्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥
(८ । २१ । ४)

'हे नरेन्द्र परीक्षित ! वह ब्रह्माके कमण्डलुका जल भगवान् विष्णुके चरणोंको धोनेसे पवित्रतम होकर स्वर्गगङ्गा अर्थात् मन्दाकिनी बन गया । भगवान् विष्णुकी निर्मल कीर्तिकी ही भाँति वह गङ्गा आकाशसे पृथ्वीपर गिरकर अद्यावधि तीनों लोकोंको पवित्र कर रही है ।'

विश्वप्रसिद्ध गीतामें भी श्रीभगवान्‌ने इन्हें अपनी विभूति माना है—

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥
(१० । ३१)

महर्षि वेदव्यासने महाभारतमें गङ्गाकी महिमाका गुणगान इस प्रकार किया है—

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥
(भीष्मपर्व ४३ । २)

जिस प्रकार **'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः ।'** अर्थात् हाथीके पाँवमें सारे पाँव समा जाते हैं, उसी प्रकार सारे तीर्थ गङ्गामें ही हैं । और तो और, जिन चार गकारादि नामोंके उच्चारणसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है, उनका महत्त्व व्यासजी इस प्रकार बताते हैं—

गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥
(महाभा० भीष्मपर्व ४३ । ३)

'गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द—इन चार गकार-युक्त नामोंको हृदयमें रखनेवाला प्राणी जीवन-मरणसे मुक्त हो जाता है । **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि** जननीजठरे शयनम्' के इस अनन्त आवागमन-चक्रसे छूट जाता है ।'

पतित-पावनी पुण्यतोया गङ्गा जिस त्रिशूलाविष्ठित नगरीको उत्तर-वाहिनी होकर द्वितीयाके अर्धचन्द्रकी

तरह अपने अङ्कमें लपेटे हुए हैं, उस काशीकी भला क्या उपमा दी जा सकती है ? कहा भी गया है——
'कौपीनं यत्र कौशेयं काशी केनोपमीयते ?'

इसी काशीके मूर्धन्य कवि स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने व्रजभाषामें तेरह सर्गोका एक मनोहारी खण्डकाव्य लिखा है, जिसका नाम है 'गङ्गावतरण।' इस विषयमें ऐसी पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि अयोध्या-नरेश सगरके साठ हजार पुत्र हुए। राजा सगर प्रतापी और बलशाली ही नहीं थे; अपितु उनमें बुद्धि एवं विवेक भी था। उन्होंने एक अश्वमेधयज्ञ किया और अपनी विजयपताका फहरानेके लिये एक सर्वाङ्ग-सुन्दर श्यामकर्ण अश्व छोड़ दिया। उस अश्वकी रक्षाके लिये साठ हजार सगर-पुत्र भी सैन्य-समूहके साथ चल पड़े। 'रत्नाकर'के शब्दोंमें——

परम साहसी साठ सहस नृपसुत असि-बाही
दृढ़-दीरघ बल-बलित काय अतिसय उतसाही॥
गर्जत तर्जत चले संग सब अंग उमैठत।
जिनकी लखि आतंक बंक अरि-उर भय पैठत॥
(गङ्गावतरण १।२२)

फिर तो इन्द्रका सिंहासन डावाँडोल हो उठा। भयभीत इन्द्रने उस अश्वको चुराकर कपिल मुनिके आश्रममें बाँध दिया। इन्द्रकी कूटनीति सफलीभूत हुई। दर्पोद्धत साठ सहस्र सगर-पुत्र कपिल मुनिके साथ भी अभद्र व्यवहार करने लगे। परिणाम यह हुआ कि वे सब-के-सब ऋषिके कोपानलसे भस्मीभूत हो गये। तत्पश्चात् सगरका पौत्र अंशुमान् अश्वकी खोजमें महर्षि कपिलके आश्रममें पहुँचा और उसने अपने साठ हजार चाचाओंके दुर्व्यवहारके लिये ऋषिसे क्षमा माँगते हुए विनयपूर्वक उनके उद्धारके लिये उपाय पूछा। तब कपिल मुनिने स्पष्ट कहा कि 'इन साठ हजार सगर-तनयोंका उद्धार पतित-पावनी कल्मष-हारिणी गङ्गाके ही संस्पर्शसे हो सकता है।' इसके बाद सगरने अथक प्रयास किया; किंतु वह प्रयास केवल प्रयास ही था, उसमें तपस्या नहीं थी। अतः वे पृथ्वीपर गङ्गाको नहीं ला सके। पुनः अंशुमान्ने अनवरत चेष्टा की; किंतु वे भी गङ्गाको इस धराधामपर लानेमें असफल रहे। फिर अंशुमान्के पुत्र दिलीपने आप्राण प्रयत्न किया; पर वे भी असफल ही रहे। अन्ततोगत्वा दिलीपके पुत्र भगीरथने प्रयत्नके साथ कठिन तपस्या की, जिससे वे ही सफल हुए।

वाल्मीकि-रामायणके बालकाण्डमें गङ्गावतरणका अत्यन्त भव्य वर्णन है——

जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा।
सागरं चापि सम्प्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा॥
(४३।३९)

'सरिताओंमें श्रेष्ठ वह गङ्गा पुनः भगीरथके रथके पीछे-पीछे चलकर सागरमें जा मिली।' इस थोड़े-से संकेतको रत्नाकरजीने पाँच सर्गोंमें विस्तृत किया है। रत्नाकरने अपने गङ्गावतरणके चतुर्थ सर्गका आधार 'देवीभागवत'के नवम स्कन्धको बनाया है। देवर्षि नारद नारायणसे पूछते हैं कि 'भगीरथने गङ्गाकी स्तुति कैसे की ?' उसी पावन प्रसंगमें 'देवीभागवत'में एक कथा आती है, जहाँ गङ्गाका सम्बन्ध लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके साथ नित्यसंगिनीरूपमें किया गया है।

भगवान् भूतभावन देवाधिदेव महादेव और उनकी जटाओंमें शोभित गङ्गाजीका परस्पर सम्बन्ध तो लोकविश्रुत है ही। कई पुराणोंमें इनका उल्लेख लालित्य तथा ओजपूर्ण शैलीमें मिलता है। 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण'के 'विष्णुपदीस्तोत्र'में गङ्गाको 'शिवसंगीतमुग्धा' तथा 'श्रीकृष्णाङ्गसमुद्भवा' कहा गया है——

शिवसंगीतमुग्धां च श्रीकृष्णाङ्गसमुद्भवाम्।
राधाङ्गद्रवसंयुक्तां तां गङ्गां प्रणमाम्यहम्॥

गङ्गा ब्रह्मद्रव तो हैं ही। शिवके संगीतसे सारे-के-सारे देवगण भी द्रवीभूत हो गये थे। नृत्याचार्य संगीतसम्राट् आशुतोष शिवके ताण्डव और पार्वतीके लास्यके साथ डमरूका डिंडिम निनाद तो प्रस्तरोंको भी पिघला देता है। पूरा हिमालय ही गलकर बह रहा है आजतक उसी संगीतके प्रभावसे, तो बेचारे देवता क्यों नहीं द्रवीभूत होते। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' कहता है——

'शरीरजा सुराणां सा बभूव सुरनिम्नगा।'

——तो आइये न रत्नाकरके शब्दोंमें इस भावमूर्तिको नयनगोचर किया जाय——

शिव सुजान तब उमगि उमगि डमरु सुख-पागे।
रचि ताण्डव रस-भूमि जुगल-गुन गावन लागे॥
भयौ भूरि आनंद हृदय तिहि लगे उलीचन।
पौन-पटल पर भव्यभाव अंतर के खींचन॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्माने असंशयचित्त हो निश्चय कर लिया कि विष्णुपदागा स्वर्गगङ्गाको मर्त्यलोकमें भेजना ही है। चतुराननने शेषनाग और दिक्पालोंको सजग कर दिया, कच्छप और पर्वतोंको धैर्य दिलाया तथा स्वस्ति-वाचन-मन्त्रके साथ कमण्डलु अपने दाहिने हाथमें ले लिया। आगेका वर्णन रत्नाकरने बड़ी ही आलंकारिक शैलीमें किया है। अनुप्रासकी छटाके साथ-साथ आश्चर्य-का भाव स्वतः जैसे मूर्त हो उठा है——

नभमण्डल थहरान भानु-रथ थकित भयो छन।
चन्द चकित रहि गयौ सहित सिगरे तारागन॥
पौन रह्यौ तजि मौन गह्यौ सब भौन सनासन।
सोचत सबै सकाइ कहा करिहैं कमलासन॥
(गङ्गावतरण ७। ६)

आकाशमण्डल थर्रा उठा। भगवान् भास्करका रथ क्षण भरके लिये रुक गया। चन्द्रमा ठगे-से खड़े रह गये। सारे तारागण स्तम्भित रह गये। पवन अपना गमन भूल गया और थकित हो गया। सभी सोचने लगे कि अब ब्रह्मा क्या करेंगे!

इधर गङ्गाके मनमें तो उमंगोन्मुखी नारीजनोचित दर्प था——'यदि मैं गङ्गा हूँ तो नगाधिराज हिमालयसहित इस शिवको साथ लेकर पातालमें चली जाऊँगी और फिर वहाँसे कन्दुककी भाँति उछलकर ब्रह्मलोकको वापस चली आऊँगी।' इसके बाद चञ्चला गङ्गा आकाश-मार्गसे पृथ्वीकी ओर ढरकती हुई उमंगके साथ हरहराती हुई भूतभावन भगवान् शम्भुके सम्मुख आ ही गयीं। फिर तो गङ्गाका सारा-का-सारा रोष और अमर्ष दूर हो गया——

भयो कोप कौ लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष रुखाई॥
(गङ्गावतरण ७। ३५)

'चित्त चिकना हो गया'——यह मुहावरा बड़ा ही अनूठा जड़ दिया गया है। 'चित्त' शब्द संस्कृत व्याकरणके अनुसार **'चिञ् चयने'** धातुसे बना हुआ है। चित्तमें अनेक वृत्तियाँ उत्पन्न और विलीन होती रहती हैं। गङ्गाके मनका सारा अमर्ष अपने-आप भगवान् आशुतोषको देखकर उड़ गया। अन्तर्यामी शिवने गङ्गाकी भ्रू-भंगीको पहचान लिया——

कृपानिधान सुजान संभु हिय की गति जानी।
दियौ शीश पर ठाँम बाम करिकै मन मानी॥
सकुचति ऐंचति अंग गंग सुख-संग लजानी।
जटा-जूट-हिम-कूट सघन बन सिमिटि सगानी॥
(गङ्गावतरण ७। ३९)

इस प्रकार एक वर्ष, दो वर्ष अथवा दस वर्षोंकी बात नहीं; अपितु गङ्गा अनेक वर्षोंतक पार्वतीपति महेशकी जटामें विचरण करती रहीं।

कहाँ तो इस विष्णुपगाकी यह दर्पोद्धता थी कि शिवके साथ हिमालयको भी अपनी धाराके प्रचण्ड वेगसे पातालमें धँसा दूँगी और कहाँ अनेक संवत्सरोंतक गङ्गाद्वारा नवल स्नेह-लीलाएँ ठनती रहीं।

भगीरथने पुनः भगवान् शिवकी आराधना-पूजा की। शिवजीने गङ्गासे मनुहार की—'गङ्गे! तुम अब धरतीपर जाओ। भगीरथको तपस्याका फल मिलने दो।' फिर तो भूप भगीरथका रथ आगे-आगे और गङ्गा उसके खातके बीचसे प्रवाहित होती हुई बढ़ीं—

भूप भगीरथ भए दिव्य स्यंदन चढ़ि आगे।
लगी गंग तिन संग, भाग भारत के जागे॥
सृंगनि सिखरनि तोरि, फोरि, ढाहति ढहरावति।
औघट घाट अबाट चली निज बाट बनावति॥
(गङ्गावतरण ८। १९)

गङ्गाका सौन्दर्य असाधारण, असामान्य है—

हरहराति हर-हार सरिस घाटी सो निकरति।
भव-भय-भेक अनेक एक संगहि सब निगरति॥
अखिल हंस बर-बंस घेरि साँकर घर धारे।
भरभराइ इक संग कढ़त मनु खुलत किवारे॥

इस प्रवाह और ध्वनिको सुनकर, देखकर हरिण अपनी चौकड़ी भूल गये। बारहसिंगे झाड़ियोंमें अपने सींगोंको उरझाये तड़पने लगे, वानर चोटियोंपर कूदकर किलकारी भरने लगे।

भगीरथके मानवी धैर्यकी अभी और भी एक परीक्षा शेष रह गयी थी। गङ्गोत्रीसे निम्नगा होते ही राजर्षि जह्नुकी तपःस्थली आयी और गङ्गाने मौजमें आकर सहज लीलाभावसे यज्ञकी समिधा-स्रुवा, घृत, तिलादिको बहा दिया। पूर्वजन्मकी लीला थी वह, अपना वियुक्त विस्तार छोड़कर सिमटीं—

निज विस्तार समेटि अंजली-आनि समानी।
(गङ्गावतरण ८। ४१)

भगीरथने जह्नुसे अपनी करुण-गाथा कही। अपनी तपस्या-तितिक्षाका विनम्र उद्घाटन किया। महर्षि दयार्द्र हो उठे। उन्होंने अपनी जाँघ चीरकर गङ्गाको पुनः उन्मुक्त कर दिया। फिर भगीरथका रथ आगे-आगे और हरहराती हुई गङ्गा रथके पीछे-पीछे चलीं। टिहरीको अपने अङ्कमें समेटती, देवप्रयाग और अलकनन्दा-क्षेत्रको गले लगाती हुई हरिद्वारमें गङ्गा लहराने लगीं। ज्येष्ठ मासके शुक्लपक्षकी दशमी तिथिको गङ्गा इस धरणीतलपर अवतरित हुई थीं।

त्रयोदश सर्गमें रत्नाकरजीने संस्कृतके स्तोत्रोंकी सामयिक शैलीमें गङ्गास्तुति व्रजभाषामें की है—

जय ताण्डवद्रवभूत ब्रह्ममूरति अति पावनि।
प्रबल प्रभाव-अमोघ सकल कलि-ओघ-नसावनि॥
चतुरानन हरि ईस परमपद बिसद बितरनी।
दस पातक-असुरारि-रूपदस इक अवतरनी॥

इस प्रकार गङ्गाका महत्त्व अतुलनीय है। जो प्राणी उसमें स्नान और जलपान करता है, उसका संसारसे उद्धार हो जाता है। शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि 'जो प्राणी सैकड़ों योजन दूरसे ही गङ्गाका नाम ले लेता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है और उसे विष्णुलोककी प्राप्ति हो जाती है—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

भागवतीय प्रवचन—१७

युधिष्ठिरके प्रति देवर्षि नारदकी भविष्य वाणी

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

विदुरजी आये। धर्मराजने उनका स्वागत किया। विदुरजी सम्मान माँगने नहीं आये थे। वे धृतराष्ट्रको बन्धनमुक्त करानेके लिये आये थे। उन्होंने छत्तीस वर्षोंतक तीर्थयात्रा की थी। संत तीर्थोंको पावन करते हैं। वैसे तो——

यात्रामें चिन्ताओंके कारण परमात्माका नियमित ध्यान नहीं हो पाता।

विदुरजीने इस छत्तीस वर्षकी यात्राका वर्णन भागवतमें छत्तीस शब्दोंमें ही किया है। आजकल तो लोग 'हमने इतनी यात्रा की' ऐसी बात बार-बार करते हैं।

अपने हाथसे जो भी पुण्यकार्य हो उसे भूल जाओ और जो पाप हो उसे याद रखो। सुखी होनेका यही मार्ग है; किंतु मनुष्य पुण्यको तो याद रखता है और पापको भूल जाता है।

युवावस्थामें जिसने बहुत पाप किये हों, उसे वृद्धावस्थामें नींद नहीं आती।

मध्यरात्रिके समय विदुरजी धृतराष्ट्रके पास गये। वे जाग ही रहे थे। विदुरजीने पूछा——'नींद नहीं आ रही है क्या ? जिस भीमको तुमने विषभरे लडडू खिलाये, उसीके घरमें अब तुम मीठे लडडू खा रहे हो ? धिक्कार है तुम्हें। तुमने पाण्डवोंको दुःख दिया। तुम ऐसे दुष्ट हो कि तुमने राजसभामें द्रौपदीको बुलानेकी सम्मति दी थी। पाण्डवोंको छोड़कर अब यात्रा करो।'

धृतराष्ट्र कहता है——'मेरे भतीजे बड़े अच्छे हैं। मेरी खूब सेवा करते हैं, उन्हें छोड़कर जानेको दिल नहीं होता।'

विदुरजी कहते हैं——'अब तुम्हें भतीजा प्यारा लग रहा है। याद करो कि तुमने पाण्डवोंको मारनेके लिये कितने प्रयत्न किये थे। भीमसेनको लडडूमें विष दिया। लाक्षागृहमें आग लगवायी आदि। ये धर्मराज तो धर्मकी मूर्ति हैं, जो तुम्हारे अपकारका बदला उपकारसे दे रहे हैं। मुझे लगता है कि कुछ ही दिनोंमें पाण्डव प्रयाण करेंगे और तुम्हें सिंहासनपर बिठायेंगे। तुम अब मोह छोड़ो। तुम्हारे सिरपर काल मँडरा रहा है। तुम्हारे मुखपर मुझे मृत्युका दर्शन हो रहा है। समझ-बूझकर गृहत्याग करोगे तो कल्याण होगा, नहीं तो कालके धक्केके कारण घर छोड़ना पड़ेगा। छोड़े बिना कोई चारा नहीं है। जो स्वयं सोच-समझकर घर छोड़े, वह बुद्धिमान् है। कुछ ही समयमें तुम्हारी मृत्यु होगी।'

यह जीव ऐसा अनाड़ी है कि सोच-समझकर स्वयं कुछ छोड़ना नहीं चाहता, किंतु जब डाक्टर कहता है कि 'ब्लडप्रेशर है, काम-काज बंद करो। आराम नहीं करोगे तो जोखिम है'; तब वह डरके मारे घरमें बैठ जाता है। इस तरह लोग डाक्टरके कहनेपर धंधा—कामकाज छोड़ते हैं।

धृतराष्ट्र कहता है—'भाई ! तेरा कहना ठीक है; किंतु मैं तो अंधा हूँ। अकेला कहाँ जाऊँ ?'

विदुरजी कहते हैं कि 'दिनको तो धर्मराज तुम्हें जाने नहीं देंगे, अतः मैं मध्यरात्रिको ही तुम्हें ले चलूँगा।' धृतराष्ट्र और गान्धारीको लेकर विदुरजी सप्तस्रोत तीर्थ गये।

प्रातःकाल हुआ तो युधिष्ठिर धृतराष्ट्रके महलमें आये। वहाँ चाचाजी दिखायी न दिये। युधिष्ठिरने सोचा——

'हमने उनके सौ पुत्रोंको मौतके घाट उतार दिया है, अतः उन्होंने आत्महत्या की होगी। जबतक चाचा-चाचीका समाचार न मिलेगा, तबतक मैं पानी भी नहीं पीऊँगा।'

धर्मात्मा व्यथित होता है तो उससे मिलने संत आते हैं। धर्मराजके पास उस समय नारदजी आये; धर्मराजने उनसे कहा—'मेरे पापोंके कारण ही चाचाजी चले गये।'

वैष्णव वह है जो अपने दोषोंको सोचे, दूसरोंके नहीं।

नारदजी समझाते हैं—'धृतराष्ट्रको तो सद्गति मिलनेवाली है। चिन्ता मत कर। प्रत्येक जीव मृत्युके अधीन है। जहाँ चाचा जायँगे वहाँ तुम्हें भी जाना है। आजसे पाँचवें दिन चाचाकी सद्गति होगी और फिर तुम्हारी बारी आयेगी। चाचाके लिये अब रोना नहीं। अब तुम अपनी ही सोचो।

'मृत्युसे ग्रसित व्यक्ति कभी वापस नहीं आता। जीवित अपने ही लिये रोये यही ठीक है। एककी मृत्युके पीछे दूसरा रोता है; किंतु रोनेवाला यह नहीं समझता कि जो वहाँ गया है, उसके पीछे उसे भी जाना है। प्रतिदिन सोचो कि मुझे अपनी मृत्यु उजागर करनी है। तुम्हारे लिये अब छः महीने बाकी हैं। तुम अपनी मृत्युके विषयमें सोचो।'

सूतजी सावधान करते हैं—'शय्यापर सोनेके बाद अर्थात् अन्तकालमें आया हुआ सयानापन किस कामका? वह तो निरर्थक है।'

नारदजी कहते हैं—'मैं तुम्हें भगवत्प्रेरणासे सावधान करनेके लिये आया हूँ। विदुरजी धृतराष्ट्रको सावधान करने आये थे। मैं तुम्हें सावधान करने आया हूँ। छः मासके पश्चात् कलियुगका प्रारम्भ होगा। अब तुम किसीकी भी चिन्ता न करो, अपितु अपनी चिन्ता करो।'

युधिष्ठिरने कई यज्ञ किये। भगवान् द्वारिका गये तो साथमें अर्जुनको भी ले गये। प्रभुकी इच्छा थी कि यदुकुलका नाश हो जाय तो अच्छा है। फिर तो यदुकुलका सर्वनाश हो गया।

युधिष्ठिरने भीमसे कहा—'नारदजीने जो कहा था, वह समय अब आ रहा है, ऐसा लगता है। मुझे कलियुगकी परछाईं दिखायी दे रही है। मेरे राज्यमें अधर्म बढ़ रहा है। मन्दिरमें ठाकुरजीका स्वरूप आनन्दमय नहीं दीखता। सियार और कुत्ते मेरे समक्ष रोते हैं। तुझे मैं और क्या कहूँ।

'मैं कल घूमने गया था। एक लोहारके पास एक वस्तु देखी। मैंने पूछा—'यह क्या है' तो उसने कहा—'यह तो ताला है।' लोगोंके घरोंमें चोरी होने लगी है, इसलिये ताले लगाने पड़ते हैं।

'आजसे छः महीने पहलेकी बात है। एक वैश्यने एक ब्राह्मणके हाथ एक घर बेचा था। उस घरकी नींवमें कुछ सोना मिला। ब्राह्मण वह सोना लेकर सेठके पास गया। सेठ धर्मनिष्ठ था। उसने कहा—'मैंने तो मकान तुम्हारे हाथ बेच दिया था, इसलिये उसमें जो कुछ भी मिला, वह सब तुम्हारा है।' ब्राह्मणने कहा—'उस सम्पत्तिपर मेरा कोई अधिकार नहीं है।'

'मेरे राज्यकी जनता कितनी धर्मनिष्ठ थी। उसी समय मैंने कहा था कि छः महीनेमें ही इन दोनोंका मन कलुषित हो जायगा। वैसा ही हुआ। कल वे दोनों मेरे पास आये थे और धनपर अपना-अपना अधिकार बता रहे थे और अपने साथ एक-एक वकील भी लेते आये थे। लगता है कि मेरे पवित्र राज्यमें अब कलिका प्रवेश हो गया है।'

कलि अर्थात् कलहका रूप जिस घरमें श्रीकृष्णकीर्तन श्रीकृष्णकी कथा होती है वहाँ नहीं जा सकता।

उद्धव-संदेश—१८

(डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी एम्० ए०, पी-एच्०डी०)

श्रीराधाके श्रीचरणोंको पद्म समझकर भ्रमर उसपर बैठ गया है और गुंजन करते हुए श्रीकृष्णकृत अपराधोंके लिये क्षमा माँग रहा है—इस आवेशमें विरहिणी श्रीराधा दिव्योन्मादकी अवस्थामें भ्रमरको लक्ष्य करके कहने लगीं—

'हाँ रे भ्रमर ! तू क्या कह रहा है ? जिस उद्देश्यसे यहाँ आया है, उसे व्यक्त करनेका मैंने तुझे जरा-सा भी अवसर नहीं दिया ? सुन, न तो कुछ बोलना शेष है और न कुछ सुनना ही है। बस, तू मेरे चरणोंके पाससे दूर हट जा, चला जा कहीं दूर, अति दूर। तेरे अन्तरमें क्या है, यह मुझसे कुछ भी छिपा नहीं है ? तू भी अपने प्रभुसे चाटुकारिताकी विद्या सीखकर यहाँ दौत्य-कार्य-हेतु आया है। तेरे प्रभुकी चापलूसी करनेकी असाधारण क्षमतासे तो मैं विशेष रूपसे परिचित हूँ। किसी गुरुतर अपराधके हो जानेपर वे गलदूवस्त्र होकर **'देहि पल्लव-मुदारम्'**-जैसे निरुपम चाटु-वाक्योंद्वारा मेरा मन भुला देते थे; किंतु अब उस कलाके सफल होनेकी कोई सम्भावना नहीं। ठगी जाकर, देख-सुनकर एवं उसका फल भोगकर मुझे अब खूब शिक्षा मिल गयी है। अब तू मुझे भुला नहीं सकेगा, मैं कोई लक्ष्मीदेवी-सदृश अचतुरा नहीं हूँ।

'हाँ रे भ्रमर ! गुंजार करके फिर क्या कह रहा है ? प्रियतमके साथ विवाद न बढ़ाकर संधि कर लूँ ? यह बात तो अब मुँहपर ही मत लाना। कपट तभीतक चल सकता है, जबतक वह पकड़में नहीं आता। मैंने इस कपटीका कपट रँगे हाथों पकड़ लिया है। क्या पूछ रहा है—क्या कपट था ? क्या यह भी तुझे बताना होगा ? यदि हाँ, तो ले सुन—

'हमने सर्वस्व उनके लिये त्याग दिया। माता-पिता, पति-भ्राता, इहलोक-परलोक, सुख-ऐश्वर्य—सभी तो उनकी प्रीति-हेतु त्याग चुकी और वे इतने अकृतज्ञ निकले कि हमारी प्रीतिकी ओर जरा-सा दृष्टिपात भी नहीं किये। एक बार भी नहीं सोचे कि जो व्रजबालाएँ मेरे सिवा अन्य कुछ भी नहीं जानतीं, वे निराश्रय होनेपर कहाँ खड़ी होंगी ? अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये सब कुछ भुलाकर चरणोंमें प्रपन्न होकर पड़ी हमें निर्मोहीकी भाँति त्यागकर चले गये। ऐसे कठोर शठराजके साथ दुबारा किसी प्रकारकी संधिवार्ता कभी नहीं की जा सकती।

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।१६)

—इस श्लोकमें चित्रजल्पका 'संजल्प' नामक पञ्चम भेद प्रकट हुआ है। 'उज्ज्वलनीलमणि'में श्रीरूप गोस्वामीने 'संजल्प'के ये लक्षण बताये हैं—

सोल्लुण्ठया गहनया कयाप्याक्षेपमुद्रया।
तस्याकृतज्ञताद्युक्तिः संजल्पः कथितो बुधैः॥

जिसमें आक्षेप-वचनोंद्वारा श्रीकृष्णकी अकृतज्ञताकी बात कही गयी हो और जिसमें निगूढरूपसे सोल्लुण्ठ वचन कहे गये हों, उसे 'संजल्प' कहते हैं। **'सोल्लुण्ठ'** वचनका अर्थ है—व्यंग्यके सहित प्रशंसोक्ति। इस श्लोकमें **'विसृज शिरसि पादम्'** अर्थात् 'चरणोंसे अपने मस्तकको हटा ले' इस वाक्यमें आक्षेपभंगी और अकृतज्ञताकी बात स्पष्ट है। अकृतज्ञादिके 'आदि' द्वारा कठोरता, उपकारीको पीड़ा देनेकी प्रचेष्टा और हृदयशून्यता समाविष्ट किये गये हैं। ये सभी बातें इस श्लोकमें पूर्णरूपसे भरी पड़ी हैं।

श्रीराधा क्षणभरके लिये नीरव हो गयीं। भाव-सिन्धुमें नानाविध संचारीभावोंकी तरंगें उठने लगीं। 'निर्वेद' नामक संचारीभाव अत्यन्त प्रगाढ़ताको प्राप्त हो गया। प्राणसर्वस्व प्रियके प्रति रोषदृष्टि उत्तरोत्तर बढ़ने

लगी । 'श्रीकृष्णके साथ मुझे अब कोई सम्पर्क रखनेकी आवश्यकता नहीं'—यह भाव अत्यन्त प्रबल होकर मनमें उदित हो गया । प्रणयके विवर्तमें डूबती-उतराती श्रीराधा एकदम अरसिक अभक्तजन-सदृश वैरस्यमय बातें कहने लगीं—

'अरे भ्रमर ! कान खोलकर सुन ले ! श्यामके साथ सख्यकी बात फिर मत उठा । उनकी कुटिलता, निर्ममता और अधार्मिकताकी कहीं परिसीमा ही नहीं है । क्या पूछ रहा है—उनकी निर्दयताका मुझे कौन-सा प्रमाण मिला ? तो बताती हूँ, सुन—वानरोंका राजा था बाली । उसे छिपकर अत्यन्त नृशंसभावसे बाणविद्ध करके मार डाला था तेरे प्रभुने । हीनचरित्र व्याधतक वानरको नहीं मारा करते, कारण, वानरका मांस अभक्ष्य है । फिर उन्होंने धार्मिक कुलके मुकुटमणि होकर भी यह व्याध-विगर्हित अशोभन कार्य किया था—**'मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा ।'**

'और देख, शूर्पणखाकी नासिका और कर्ण-छेदन-व्यापारको याद कर । यह भी कोई कहनेकी बात है ? शूर्पणखाका दोष तो इतना ही था न कि उनके रूपपर मुग्ध होकर उसने उन्हें अपना स्वामी बनानेकी इच्छा व्यक्त की । इस दोष-हेतु उससे स्वयं तो विवाह किया ही नहीं; प्रत्युत उसका अङ्गछेदन कर उसे इस प्रकार विरूपा बना दिया कि और कोई पुरुष भी उसे ग्रहण न कर सके—**'स्त्रियमकृत विरूपाम् ।'** हाँ, यह बात भी कुछ समझमें तब आती जब हम देखते कि श्रीमान्‌जी तपस्वी-ब्रह्मचारी हैं, सत्यपालन-व्रतके व्रती होकर वन-वनमें भटक रहे हैं, अतः इनके सामने विवाह-प्रस्ताव रखना अशोभनीय कार्य है । किंतु ऐसा तो नहीं था । वे तो अपनी प्रियाके साथ प्रेमपूर्वक वन-शोभाका आनन्द ले रहे थे । यदि किसी अन्य स्त्रीको ग्रहण करनेकी इच्छा उन्हें नहीं थी तो अपने इतने रूप-सौन्दर्यकी छटाका विस्तार करनेकी क्या आवश्यकता थी ? पहले तो रूप दिखाकर मुग्ध करना और फिर ऐसा अमानुषोचित अपमान ! ऐसी निर्ममताका वर्णन करनेके लिये तो भाषा ही नहीं मिलती !

'और, एक निर्ममता एवं अधार्मिताकी बात और सुनाती हूँ, सुन । कौन नहीं जानता महाराज बलिके छलनेकी बात ? मान लो, दशरथके पुत्र तो क्षत्रिय थे, उनका जातिधर्म ही मार-काट करना था; किंतु कश्यपका पुत्र वामन तो ब्राह्मणकुमार, ब्रह्मचारी था । देखनेसे भी लगता था कि मानो वह शान्ति-क्षान्ति-गुण-सम्पन्न सद्विप्र हो । बलि राजाने क्या अपराध किया ? यही न, कि उन्होंने ब्रह्मचारी ब्राह्मण-कुमारको अत्यन्त आदर एवं भक्तिपूर्वक त्रिपाद-भूमिदानकी प्रतिश्रुति दी ! बलिके पूजा-ग्रहणकालमें तो नन्हे-नन्हे पैर दिखा दिये और फिर न जाने कहाँसे किस प्रकार प्रकाण्ड-प्रकाण्ड एवं विराट् पैर प्रकट कर दिये । इस इन्द्रजालका रहस्य कोई भी नहीं समझ सका । किसी बड़ी वस्तुके भीतर तो छोटी वस्तु समा सकती है, किंतु किसी छोटी वस्तुमें कोई बड़ी वस्तु किस प्रकार छिपी रह सकती है, यह बात जीवबुद्धिगम्य तो है ही नहीं ! दो विराट् पदविक्षेपसे सारा जगत्-ब्रह्माण्ड नाप लिया । फिर 'तीसरा पैर कहाँ रखूँ ?'—कहकर छलपूर्वक बेचारे बलिको बाँधकर रसातलमें भेज दिया । धर्मात्मा बलि महाराजके प्रति इस अत्याचार एवं दौरात्म्यकी बात सोचनेसे ही प्राण काँप उठते हैं । जिस प्रकार काक किसी मनुष्यके मस्तकपर रखे खाद्य-द्रव्यको लूटकर खाता है और अवसर देखकर उसके मस्तकपर चोंच मारकर उसे क्षत-विक्षत भी कर देता है, उसी प्रकार वामनने भी काककी तरह ही (**ध्वाङ्क्षवत्**) 'प्रतिश्रुति पूर्ण नहीं हुई' कहकर उसका सर्वस्व छीन लिया और अपने सेवकोंद्वारा वरुणपाशसे बाँधकर रसातलमें भेज दिया—**'बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयत् ।'** श्यामवर्णके व्यक्तियोंके साथ (**तदलमसितसख्यैः**) मित्रता करनेकी बात अब बंद कर दे । श्यामवर्णमें ही एक मोहिनी शक्ति होती है । दशरथके पुत्र भी श्यामवर्ण थे, कश्यप मुनिके पुत्र वामन भी श्यामवर्णके थे और तेरे सखा

मथुरापति भी श्यामवर्ण ही हैं। लगता है, यह इस वर्णका ही दोष है। मोहिनी-शक्ति और नृशंसता—दोनों इस वर्णके चिरसंगी हैं।'

श्रीराधाके प्रणय-विवर्तकी वाक्योक्ति उद्धवजी सुन रहे हैं। उद्धवजीने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि श्रीकृष्णके प्रति भी इस प्रकारकी उक्ति कोई कह सकता है। श्रीमतीके महाभावके अतल-सिन्धुमें अवगाहन करनेकी सामर्थ्य उद्धवजीमें नहीं है। उन्होंने तो केवल उस सिन्धुके तीरपर बैठकर उसकी महिमाके एक क्षुद्रतम अंशका ही अनुभव किया है। इतनेसे ही वे अस्थिर होकर मन-ही-मन विचार करने लगे। श्रीराधा श्रीकृष्णकी इतनी निन्दा करती हुई भी बार-बार बात श्रीकृष्णकी ही कर रही हैं। एक क्षणके लिये भी तो उनके मुखसे श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई बात नहीं निकलती। श्रीराधाका भावना-दृष्ट भ्रमर गुंजन कर रहा है। श्रीमती अपने भाव-कर्णोंद्वारा भ्रमरकी बात सुन रही हैं। सुनकर कह रही हैं—'अरे ओ मधुप! अस्पष्ट गुंजन करके धीरे-धीरे क्या कह रहा है? अच्छा, कह रहा है कि 'यदि श्रीकृष्ण इतने अपराधी हैं तो मेरे यहाँ आगमन-अवधिमें मैं आपके मुखसे घुमा-फिराकर केवल उन्हींकी बात क्यों सुन रहा हूँ?' दोषी व्यक्तिके दोषोंका वर्णन भी गुणी व्यक्तिके लिये कोई शोभनीय कार्य नहीं है?

'इसका भी उत्तर सुन ले। रे अलि! यह बात तो यथार्थ ही है कि श्यामवर्णके व्यक्तिके साथ बन्धुत्वसे अब मुझे रंचमात्र भी प्रयोजन नहीं है, किंतु उसकी लीला-कथारूप जो परम सम्पद् है, उसका त्याग करनेमें मैं अपनेको सम्पूर्णरूपसे असमर्थ पाती हूँ—**'दुस्त्यजस्तत्कथार्थः'**। भ्रमर! उनका तो त्याग किया जा सकता है; किंतु उनकी कथाका त्याग नहीं कर पा रही हूँ। उन्होंने भी हमारा त्याग कर दिया है और हमने भी उनका त्याग कर दिया; किंतु उनकी लीला-कथा 'दुस्त्यज' है। उन्हें खोकर भी केवल उनकी कथाके सहारे ही तो हम जीवन धारण कर रही हैं। कथाका त्याग करनेसे तो प्राण ही नहीं रहेंगे। कथा नहीं छोड़ पा रही हैं, इसमें भी हमारा कोई दोष नहीं, दोष उनकी कथाका ही है। उनकी कथा हमारी रसनाको छोड़ना नहीं चाहती। कारण, छोड़ते ही तो हम मर जायँगी। हम मर गयीं तो फिर इतना कष्ट कौन भोगेगा? हमारा वध करनेकी भी तो उनकी इच्छा नहीं है। जैसे वे हैं, वैसी ही है उनकी कथा। निर्दयताकी होड़में दोनों समकक्ष हैं।

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥
(श्रीमद्भा० १०। ४७। १७)

—इस श्लोकमें चित्रजल्पका 'अवजल्प' भेद प्रकट हुआ है। पण्डितगण अवजल्पके लक्षणोंका निम्नलिखित वर्णन करते हैं—

हरौ काठिन्यकामित्वधौर्त्यादासक्त्ययोग्यता।
यत्र सेर्ष्यं भियेवोक्ता सोऽवजल्पः सतां मतः॥

जिस उक्तिके भीतर ईर्ष्या और भय व्याप्त हो और ऊपरी भाषामें श्रीहरिके काठिन्य, कामित्व, धूर्तता एवं आसक्तिजनित अयोग्यता प्रकाशित हो, वही **'अवजल्प'** है। शूर्पणखाके नासा-कर्णछेदन एवं बालि-वधद्वारा श्रीहरिका काठिन्य प्रदर्शित होता है। **'स्त्रीजितः'**—स्त्रीद्वारा पराजित, तपस्वी होकर भी सीता-संगी हैं, इस उक्तिद्वारा कामित्व दर्शाया गया है। बलिके प्रति अत्याचारसे धूर्तता प्रकट होती है। **'अलमसितसख्यैः'**—श्यामलके साथ और मित्रताकी आवश्यकता नहीं—इस पदसे श्याममें आसक्तिकी अयोग्यता प्रकट हुई है। श्लोककी व्यञ्जनामें ईर्ष्या और भय व्याप्त है। श्यामके सङ्ग पुनः बन्धुत्व होनेपर ताप और बढ़ेगा, यह भय लगा हुआ है। **'स्त्रीजितः'** पदसे सीताके प्रति ईर्ष्या स्पष्ट प्रकट होती है।

उपर्युक्त समस्त उक्तियाँ श्रीराधाके मुखसे उनकी दिव्योन्माद-अवस्थामें भावतरंगोंके आघातस्वरूप प्रकट

हुई हैं। ऐसी बात नहीं कि श्रीराधाको यह अज्ञात हो कि श्रीकृष्ण कितने स्नेहमय और कोमल-हृदय हैं। शूर्पणखाके प्रति व्यवहार बाह्यदृष्टिसे निर्दयताका व्यवहार प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः वह भी परम करुणाका ही निदर्शन है, यह बात भक्तसमाजमें अविदित नहीं है। सरलभावसे हो या कपटभावसे शूर्पणखाने श्रीरामको पतिरूपसे प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा की है। जब भगवान्‌को पतिरूपसे चाहा तब अवश्य ही वैसा होगा। उसके हृदयमें जब वासनाका उदय हो चुका, तब भगवान्‌को उसे पत्नी-रूपसे ग्रहण करना ही होगा; किंतु एक-पत्नीव्रतधारी श्रीराम अन्य नारीको पत्नीरूपसे ग्रहण नहीं कर सकते। अतएव जबतक वे पुनः बहुवल्लभ होकर अवतरित नहीं होते, तबतक शूर्पणखाको प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।

इस सुदीर्घ प्रतीक्षाकी कालावधिमें यदि कोई अन्य व्यक्ति उसका पाणिग्रहण कर ले या उसके प्रति आकृष्ट हो जाय तो श्रीहरिके 'भक्तवाञ्छाकल्पतरु' नामको दोषका स्पर्श होगा। इसीलिये करुणानिलय प्रभु ऐसा नहीं होने देंगे। जब द्वापरमें नन्दालयमें बहुवल्लभ होकर प्रकट होंगे तब जो भी उनकी चरण-सेवा माँगेगा, वे उसे ही ग्रहण कर लेंगे। जितने दिन वे नहीं आते, तबतक शूर्पणखाको इस प्रकार बना ही देना होगा कि कोई भी पुरुष उसकी आकाङ्क्षा न करे और वह भी किसी पुरुषको न चाहे। विरूप करनेसे यह उद्देश्य सिद्ध हो गया।

द्वापरमें वही शूर्पणखा कुब्जा होकर आयी। जन्मसे ही उसके इस प्रकारका कूबड़ था, जिससे कोई भी पुरुष उसे ग्रहण करनेको इच्छुक नहीं था। जबतक भगवान् स्वयं आकर न अपनायें तबतक उसे कुरूप बनाकर ही रखा। अतएव शूर्पणखाके विरूपीकरण-कार्यमें निर्दयता नहीं, करुणा ही भरी पड़ी है। इसी प्रकार वालि-वधमें भी निर्दयता नहीं है। वालि-वधके पश्चात् वालीकी पत्नीने विलाप करते हुए, श्रीरामकी भर्त्सना करते हुए जितने प्रश्न उठाये, श्रीरामने उन सबका युक्तिसंगत उत्तर दिया। अपने अनुजकी सहधर्मिणीको बलात् अङ्कशायिनी बनाकर वाली महापाप कर रहा था। इस चरित्रहीनता-हेतु वह दण्डार्ह था। सुग्रीव श्रीरामके मित्र थे। मित्रका शत्रु भी शत्रु ही होता है। अतः पापकर्मा शत्रुका वध करना श्रीरामका कर्तव्य था। बालीको यह वर प्राप्त था कि सम्मुख समरमें उसे कोई नहीं मार सकेगा। अतएव अन्तरालमें रहकर तीर चलानेमें कोई दोष-स्पर्श नहीं होता।

बलि-छलनामें भी धूर्तता नहीं, करुणा ही भरी है। दो पदक्षेपोंसे ही त्रिभुवनका अतिक्रमण कर वामन-देवने बलिसे तृतीय पदके लिये स्थान पूछा। बलि बोले—'प्रभो! अब तो मेरे पास और स्थान नहीं है तथा आपके पास भी और पैर नहीं हैं।' प्रभु बोले—'राजन्! यदि तुम स्थान दे सको तो मैं पैर भी दे दूँगा।' बलिने विचार किया कि 'मैंने सर्वस्व अवश्य दे दिया है; किंतु अभीतक स्वयंको तो नहीं दे पाया।' ऐसा विचारकर बलिने अपना मस्तक झुका दिया और प्रभु वामनदेवने उसपर अपना चरण रखकर उसे स्वीकार किया। बलिको बंदी बनाकर तो प्रभु स्वयं चिरकालके लिये उसके द्वारपर प्रहरी बनकर बंदी हो गये। सभी कार्योंमें करुणामयकी करुणाधारा ही प्रवाहित है। महा-भावसिन्धुके सुगम्भीर वक्रभावके तरंगाघातसे उत्पन्न संचारीभावोंकी प्रबलता-हेतु श्रीराधा श्रीकृष्णके गुणोंमें भी दोषका आविष्कार कर रही हैं। यही तो चित्रजल्प है।

श्रीकृष्ण पूर्वलीलामें श्रीराम और वामन थे। ऐसा कहनेसे यह सिद्ध होता है कि श्रीराधाको यह ज्ञात था कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। कहा तो यह जाता है कि श्रीराधाके ऐश्वर्यगन्धहीन शुद्ध माधुर्य-अवगाही प्रेममें 'ईश्वरबुद्धि'का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं टिक सकता। इस जिज्ञासाका समाधान तीन प्रकारसे सम्भव है—

१—श्रीराधा, उनके गण तथा अन्यान्य व्रजजन जानते थे कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। श्रीकृष्णके सङ्ग-मिलनकालमें आनन्दके उल्लास-हेतु इस ईश्वरत्वबोधका उदय नहीं हो पाता; किंतु विरहकालमें कभी कदाचित् वह व्यक्त हो जाता है। दुग्धसे भरे कड़ाहमें एक टुकड़ा तृण पड़ा हो तो वह दिखायी नहीं पड़ता; किंतु यदि कड़ाहाको अग्निपर चढ़ाकर दुग्ध उबाला जाय तो बीच-बीचमें वह तृणखण्ड दृष्टिगोचर होने लगेगा और ज्यों ही उसे पकड़नेकी चेष्टा की जायगी, वह अदृश्य भी होता रहेगा। व्रजप्रेमके दुग्धकड़ाहमें 'ऐश्वर्यबुद्धि' भी उस तृणखण्डकी भाँति छिपी रहती है। विरह-तापसे जब प्रीति-दुग्ध उद्वेलित होता है, तब ऐश्वर्य-बुद्धि क्षण-भरके लिये दृष्टिपथपर प्रकट होती है और फिर छिप जाती है। विरहकालमें भगवत्ता-बोधक उक्ति रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें भी दृष्ट होती है—**'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'**।

२. श्रीराधा और अन्यान्य व्रजजन श्रीकृष्णको कभी भी भगवान् नहीं जानते। श्रीकृष्ण उनके लिये प्रेष्ठ हैं, प्रियतम हैं, श्रेष्ठ नहीं। श्रीकृष्ण गोपियोंके प्राणेश्वर मात्र हैं, जगदीश्वर नहीं। फिर इस प्रकारकी जो उक्ति दृष्ट होती है, वह उनके स्वयंद्वारा जानी हुई या विश्वास की हुई बातें नहीं हैं, मात्र सुनी-सुनायी बातें हैं। गर्गाचार्य, पौर्णमासी देवी प्रभृतिके मुखसे उन्होंने सुना है कि श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं, ईश्वर हैं। प्रयोजन होनेपर यही सुनी बात वे प्रयोगमें ले लेती हैं। जिस प्रकार किसी दरिद्र स्त्रीके पास स्वयंके अच्छे वस्त्र-अलंकार नहीं होते; किंतु किसी विशेष अनुष्ठानमें सम्मिलित होनेके लिये वह अपने प्रतिवेशी धनी गृहिणीसे उधार माँगकर ले जाती है और अनुष्ठान सम्पन्न होनेके बाद लौटा जाती है, उसी प्रकार गोपियाँ भी ये उक्तियाँ उधार लेकर प्रयोजनके समय काममें ले लेती हैं। 'श्रीकृष्ण ईश्वर हैं', यह भावना गोपियोंकी अन्तरकी निजस्व-सम्पद् नहीं है। श्रीकृष्णके साथ मिलनकालमें वे इसका कभी भी प्रयोग नहीं करतीं। विरहकालमें, क्रन्दन-कालमें, निवेदन या प्रार्थना करते समय या वाम्यभावसे उलाहना देते समय वे अन्यके मुखसे सुनी-सुनायी ये बातें कुछ समयके लिये उधार लेकर उनका व्यवहार मात्र करती हैं। श्रीकृष्ण ही पूर्वलीलामें श्रीराम या श्रीवामन थे, ऐसी कोई उक्ति इस श्लोकमें नहीं है। **'तदलमसितसख्यैः'**--असितके साथ मित्रतासे अब कोई प्रयोजन नहीं, यही मात्र लिखा है। 'असित' शब्दका अर्थ है श्यामवर्ण। निर्वेद-संचारी भावकी प्रगाढतावश इस स्थलपर श्रीराधाके मनमें श्यामवर्ण मात्रके लिये दोषदृष्टि उद्भूत हुई है। 'श्याम' नाम उच्चारणसे भी वे भीता हैं, तभी 'असित' कहा है। जगत्में जो-जो श्यामवर्ण हैं, वे सभी कुटिल और निर्दय हैं। श्रीराम इतने अच्छे और गुणवान् होते हुए भी केवल श्यामवर्ण होनेके कारण उन्होंने बाली और शूर्पणखाके प्रति निर्दयताका व्यवहार किया। कश्यप-पुत्र वामन आजन्म ब्रह्मचारी और निःसंग होते हुए भी बलिके प्रति धूर्तताका आचरण किया—केवल श्यामवर्णके थे, इसीलिये वर्णगत साम्य-हेतु श्रीराम और वामन-सदृश अच्छे व्यक्ति भी जब निर्मम हो गये, तब श्यामवर्ण यदुपति, जो स्वभावसे ही कुटिल हैं, निर्दय और कपटी होंगे, इसमें क्या संदेह रह जाता है? इसलिये श्रीमतीने ये उक्तियाँ श्यामलताके कौटिल्यसे भीता होकर ही कही हैं, न कि श्रीकृष्णके प्रति ईश्वर-बुद्धि-हेतु। वस्तुतः ये सभी उक्तियाँ किसी प्रकारकी विचार-बुद्धिसे उद्भूत नहीं हैं, ये तो महाभावसमुद्रकी तरंगमालाके असंख्य उच्छ्वास मात्र हैं। यही तो चित्रजल्पका मूल उत्स है। (क्रमशः)

(अनु०—श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल)

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें स्वाभाविक और नये परिवर्तनका वर्णन

प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारमें बढ़ना-घटना आदि जो कुछ परिवर्तन हो रहा है, वह 'स्वाभाविक परिवर्तन' है और मनुष्य जो नये कर्म करता है, वह 'नया परिवर्तन' है।

स्वाभाविक परिवर्तन निरन्तर होता ही रहता है। यह परिवर्तन मनुष्य, देवता, भूत-प्रेत, गन्धर्व, यक्ष आदिके शरीरोंमें तथा सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र, वृक्ष, लता, जन्तु आदिमें और पृथ्वी, समुद्र, पहाड़ आदि निर्जीव पदार्थोंमें भी होता रहता है। इसी स्वाभाविक परिवर्तनको कहीं प्रकृतिमें होनेवाला कहा है (१३।२९) और कहीं गुणोंमें होनेवाला कहा है (३।२७; ५।९)। तात्पर्य यह है कि त्रिलोकीके स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके शरीरोंमें तथा जड़ पदार्थोंमें जो कुछ परिवर्तन हो रहा है, वह स्वाभाविक परिवर्तन है।

मनुष्यका शरीर जन्मता है, बचपनसे युवा होता है, युवासे वृद्ध होता है और फिर मर जाता है (२।१३)—यह स्वाभाविक परिवर्तन होते हुए भी मनुष्यमें नया परिवर्तन भी होता है। जैसे मनुष्य सात्त्विक सङ्ग, स्वाध्याय, जप, ध्यान आदि करता है तो उसकी गति सात्त्विकताकी ओर, राजस सङ्ग, स्वाध्याय आदि करता है तो उसकी गति राजसताकी ओर और तामस सङ्ग, स्वाध्याय आदि करता है तो उसकी गति तामसताकी ओर हो जाती है। मरनेके बाद सात्त्विक मनुष्य ऊर्ध्वगतिमें, राजस मनुष्य मध्यगतिमें और तामस पुरुष अधोगतिमें जाते हैं (१४।१८)।

नया परिवर्तन पशु-पक्षी आदिमें भी देखनेमें आता है; जैसे—शिक्षा देनेपर बंदर भी सैनिकका काम करने लगता है, साइकिल चलाने लगता है आदि-आदि; परंतु जिससे कल्याण हो जाय, ऐसा पारमार्थिक परिवर्तन उसमें नहीं होता। कारण कि वह भोगयोनि है और उसमें जो कुछ होता है, वह सब भोगके लिये ही होता है। जैसे सिंह किसी पशुको मारकर खा जाता है तो उसे पाप नहीं लगता; क्योंकि उसमें सब भोग-ही-भोग है। अतः पशु, पक्षी आदि योनियोंमें नया कर्म नहीं बनता। मनुष्य कर्मयोनि है; अतः मनुष्य नया कर्म (नया परिवर्तन) कर सकता है।

मनुष्यके जो जन्मारम्भक कर्म हैं; वे पुराने कर्म हैं। उन कर्मोंसे जो परिवर्तन होता है, उससे भी विलक्षण परिवर्तन नये कर्मोंसे होता है, ऐसा देखनेमें आता है कि उत्तम जातिमें जन्म लेनेपर भी अच्छा सङ्ग, शिक्षा आदि न मिलनेसे मनुष्य दुराचारी हो जाता है। अतः जन्मारम्भक (पुराने) कर्म अच्छे होनेपर भी नये कर्म अच्छे न होनेसे मनुष्यका पतन हो जाता है। इसके विपरीत नीच जातिमें जन्म लेनेपर भी अच्छा सङ्ग, शिक्षा आदि मिलनेसे मनुष्य सदाचारी हो जाता है, संत-महात्मा बन जाता है, दूसरों-के लिये आदर्श हो जाता है। अतः जन्मारम्भक कर्म अच्छे न होनेपर भी नये कर्म अच्छे होनेसे मनुष्यमें बहुत विलक्षणता आ जाती है।

गीताने स्थितप्रज्ञ, गुणातीत और भक्तोंके लक्षणोंके रूपमें नये परिवर्तनका ही वर्णन किया है। मनुष्य नया परिवर्तन इतना कर सकता है कि जिसका कोई पार नहीं है। नये परिवर्तनसे मनुष्य भगवान्का भी आदरणीय हो सकता है। इस नये परिवर्तनसे भक्तोंका

शरीर चिन्मय हो जाता है; जैसे—तुकारामजी महाराज सशरीर वैकुण्ठ चले गये; कबीरजीका शरीर पुष्पोंमें परिणत हो गया; मीराबाईका शरीर भगवान्‌के विग्रहमें समा गया। जनाबाई और फूलीबाईकी थेपड़ियोंसे नाम-ध्वनि निकलती थी। तुकारामजीके चरणचिह्नोंसे विट्ठल-नामकी ध्वनि निकलती थी। मरनेके बाद भी चोखा-मेलाकी हड्डियोंसे विट्ठल-नामकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी।

भगवान्‌ने गीतामें भक्तोंके चार प्रकार बताये हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और प्रेमी (७ । १६)। ये चार प्रकार जन्मसे नहीं हैं, प्रत्युत कर्मसे हैं। इनमें पुराने कर्म नहीं हैं, प्रत्युत नये कर्म हैं, नया परिवर्तन है। इस नये परिवर्तनका अवसर इस मनुष्यशरीरमें ही है, अन्य शरीरोंमें नहीं। कहीं-कहीं अपवादरूपसे पशु-पक्षी आदिमें भी नया परिवर्तन देखनेमें आता है।

बालकका पालन, पोषण और रक्षण करना—यह माँके द्वारा किया गया नया परिवर्तन (कर्म) है; परंतु बालकका बढ़ना नया परिवर्तन नहीं है। कारण कि माँने बालकको बड़ा नहीं किया; प्रत्युत वह स्वाभाविक बड़ा हो गया। भोजन करना नया परिवर्तन है, पर भोजनका पचना स्वाभाविक परिवर्तन है। दवा लेना नया परिवर्तन है, पर दवासे रोगका शान्त हो जाना स्वाभाविक परिवर्तन है। ऐसे ही शरीरका जन्मना, बढ़ना आदि तो स्वतः स्वाभाविक होता है, पर मनुष्य-शरीरमें शुभाशुभ कर्म करके स्वर्ग, नरक अथवा चौरासी लाख योनियोंमें जाना, भगवद्भजन करना, प्राणियोंकी सेवा करना, अपने कर्तव्यका पालन करना, अपने विवेकका आदर करना आदि नया परिवर्तन (कर्म) है। इस नये परिवर्तनके कारण ही पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी ज्ञान प्राप्त करके अपना उद्धार कर सकता है (४ । ३६), भगवान्‌को प्राप्त करनेका एक निश्चय करके अनन्यभक्त बन सकता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त कर सकता है (९ । ३०-३१) तथा केवल लोकसंग्रहके लिये, कर्तव्य-परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये, केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर सकता है (४ । २३)।

गीतामें जातिका वर्णन

जन्मना मन्यते जातिः कर्मणा मन्यते कृतिः ।
तस्मात् स्वकीयकर्तव्यं पालनीयं प्रयत्नतः ॥

ऊँच-नीच योनियोंमें जितने भी शरीर मिलते हैं, वे सब गुण और कर्मके अनुसार ही मिलते हैं (१३ । २१; १४ । १६, १८)। गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है अर्थात् पूर्वजन्ममें मनुष्यके जैसे गुण थे और जैसे कर्म थे, उनके अनुसार ही उसका जन्म होता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि 'प्राणियोंके गुणों और कर्मोंके अनुसार ही मैंने चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की रचना की है'—**'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'** (४ । १३)। अतः गीता जन्म (उत्पत्ति)से ही जाति मानती है अर्थात् जो मनुष्य जिस वर्णमें जिस जातिके माता-पितासे पैदा हुआ है, उसीसे उसकी जाति मानी जाती है।

'जाति' शब्द **'जनी प्रादुर्भावे'** धातुसे बनता है, इसलिये जन्मसे ही जाति मानी जाती है, कर्मसे नहीं। कर्मसे तो 'कृति' होती है, जो **'डुकृञ् करणे'** धातुसे बनती है; परंतु जातिकी पूर्ण रक्षा उसके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे ही होती है।

भगवान्‌ने (१८ । ४१ में) जन्मके अनुसार ही कर्मोंका विभाग किया है। मनुष्य जिस वर्ण (जाति)-में जन्मा है और शास्त्रोंने उस वर्णके लिये जिन कर्मोंका विधान किया है, वे कर्म उस वर्णके लिये 'स्वधर्म' हैं और उन्हीं कर्मोंका जिस वर्णके लिये निषेध किया है,

उस वर्णके लिये वे कर्म 'परधर्म' हैं। जैसे—यज्ञ करना, दान लेना आदि कर्म ब्राह्मणके लिये शास्त्रकी आज्ञा होनेसे 'स्वधर्म' हैं; परंतु वे ही कर्म क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये शास्त्रका निषेध होनेसे 'परधर्म' हैं। स्वधर्मका पालन करते हुए यदि मनुष्य मर जाय, तो भी उसका कल्याण ही होता है; परंतु परधर्म (दूसरोंके कर्तव्य-कर्म)का आचरण जन्म-मृत्युरूप भयको देनेवाला है (३ । ३५)। अर्जुन क्षत्रिय थे; अतः युद्ध करना उनका स्वधर्म है। इसलिये भगवान् उनके लिये बड़े स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि क्षत्रियके लिये युद्धके सिवाय और कोई कल्याणकारक काम नहीं है (२ । ३१), यदि तुम इस धर्ममय युद्धको नहीं करोगे, तो स्वधर्म और कीर्तिका त्याग करके पापको प्राप्त होओगे (२ । ३३)।

भगवान्‌ने गीतामें अपने-अपने वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेपर बड़ा बल देकर कहा है कि अपने-अपने कर्तव्य-कर्ममें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है (१८ । ४५); अपने कर्मोंके द्वारा परमात्माका पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है (१८ । ४६)। परमात्माका पूजन पवित्र वस्तुसे होता है, अपवित्र वस्तुसे नहीं। अपना कर्म ही पवित्र वस्तु है और दूसरोंका कर्म अपने लिये (निषिद्ध होनेसे) अपवित्र वस्तु है। अतः अपने कर्मसे परमात्माका पूजन करनेसे ही कल्याण होता है और दूसरोंके कर्मसे पतन होता है। अपने कर्म (स्वकर्म)को भगवान्‌ने 'सहज कर्म' कहा है। सहज कर्मका अर्थ है—साथमें पैदा हुआ कर्म। जैसे कोई क्षत्रियके घरमें पैदा हुआ तो क्षत्रियके कर्म भी उसके साथ ही पैदा हो गये। अतः क्षत्रियके कर्म उसके लिये सहज कर्म हैं। भगवान्‌ने भी चारों वर्णोंके सहज, स्वभावज कर्मोंका विधान किया है (१८ । ४२—४४)। इन स्वभावज कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता (१८ । ४७)। जैसे स्वतः प्राप्त हुए न्याययुक्त युद्धमें मनुष्योंकी हत्या होती है, पर शास्त्रविहित सहज कर्म होनेसे क्षत्रियको पाप नहीं लगता।

मनुष्य जिस जातिमें पैदा हुआ है, उसके अनुसार शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करनेसे उस जातिकी रक्षा हो जाती है और विपरीत कर्म करनेसे उस जातिमें कर्म-संकर होकर वर्णसंकर पैदा हो जाता है। भगवान्‌ने भी अपने लिये कहा है कि यदि मैं अपने वर्णके अनुसार कर्तव्यका पालन न करूँ तो मैं वर्णसंकर पैदा करनेवाला तथा सम्पूर्ण प्रजाका नाश (पतन) करनेवाला बनूँ (३ । २३-२४)। अतः जो मनुष्य अपने वर्णके अनुसार कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला और पापमय जीवन बितानेवाला मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है (३ । १६)।

सभी मनुष्योंको चाहिये कि वे अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा अपनी जातिकी रक्षा करें। इसके लिये पाँच बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) विवाह—कन्याको लेना और देना अपनी जातिमें ही होना चाहिये; क्योंकि दूसरी जातिकी कन्या लेनेसे रज-वीर्यकी विकृतिके कारण उनकी संतानोंमें भी विकृति (वर्णसंकरता) आयेगी। विकृत संतानोंमें अपने पूर्वजोंके प्रति श्रद्धा नहीं होगी। श्रद्धा न होनेसे वे उन पूर्वजोंके लिये श्राद्ध-तर्पण नहीं करेंगे, उन्हें पिण्ड-पानी नहीं देंगे। कभी लोक-लज्जामें आकर दे भी देंगे, तो भी वह श्राद्ध-तर्पण, पिण्ड-पानी पितरोंको मिलेगा नहीं। इससे पितरलोग अपने स्थानसे गिर जायँगे (१ । ४२)। गीता कहती है कि जो शास्त्र-विधिको छोड़कर मनमाने ढंगसे कर्म करता है, उसे न तो अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धि मिलती है, न सुख

मिलता है और न परमगतिकी प्राप्ति ही होती है (१६ । २३) । अतः मनुष्यको कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें शास्त्रको ही सामने रखना चाहिये (१६।२४)।

(२) **भोजन**---भोजन भी अपनी जातिके अनुसार ही होना चाहिये । जैसे ब्राह्मणके लिये लहसुन, प्याज खाना दोष है। यदि वे दूसरी जातिवालोंके साथ भोजन करेंगे तो अपनी शुद्धि तो उनमें जायगी नहीं, पर उनकी अशुद्धि अपनेमें अवश्य आ जायगी । अतः मनुष्यको अपनी जातिके अनुसार ही भोजन करना चाहिये ।

(३) **वेशभूषा**---पाश्चात्त्य देशका अनुकरण करनेसे आज अपनी जातिकी वेशभूषा प्रायः भ्रष्ट हो गयी है । प्रायः सभी जातियोंकी वेशभूषामें दोष आ गया है, जिससे 'कौन किस जातिका है'---इसका पता ही नहीं लगता। अतः मनुष्यको अपनी जातिके अनुसार ही वेशभूषा रखनी चाहिये ।

(४) **भाषा**--अन्य भाषाओंको, लिपियोंको सीखना दोष नहीं है, पर उनके अनुसार स्वयं भी वैसे बन जाना बड़ा भारी दोष है । जैसे अंग्रेजी सीखकर अपनी वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन अंग्रेजोंका-सा ही बना लेना उस भाषाको लेना नहीं है, प्रत्युत अपने-आपको खो देना है । अपनी वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन वैसा-का-वैसा रखते हुए ही अंग्रेजी सीखना अंग्रेजी भाषा एवं लिपिको लेना है । अतः अन्य भाषाओंका ज्ञान होनेपर भी बोलचाल अपनी भाषामें ही होनी चाहिये ।

(५) **व्यवसाय**---व्यवसाय (काम-धंधा) भी अपनी जातिके अनुसार ही होना चाहिये । गीताने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये अलग-अलग कर्मोंका विधान किया है (१८ । ४२-४४)।

गीतामें द्विविध सत्ताका वर्णन

द्विविधा दृश्यते सत्ता विकारिण्यविकारिणी ।
भूत्वाऽसतो भवित्री च सतो नित्या सनातनी ॥

सत्ता दो प्रकारकी होती है---विकारी और अविकारी । उत्पन्न होनेके बाद जो सत्ता होती है, वह 'विकारी सत्ता' कहलाती है; क्योंकि उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। जो सत्ता स्वतः सिद्ध है, वह 'अविकारी सत्ता' कहलाती है; क्योंकि उसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता । अतः गीतामें दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि जिसका कभी भाव (सत्ता) नहीं होता, वह असत् है, विकारी सत्ता है और जिसका कभी अभाव नहीं होता, वह सत् है, अविकारी सत्ता है---**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।'**

उत्पन्न होना, उत्पन्न होनेके बाद सत्तावाला दीखना, बढ़ना, अवस्थान्तर होना (बदलना), क्षीण होना और नष्ट होना---ये छः विकार मात्र संसारमें होते हैं, जैसे बच्चा पैदा होता है, पैदा होनेके बाद 'बच्चा है' ऐसा दीखता है, वह बढ़ता है, उसकी अवस्थाओंका परिवर्तन होता है, वह क्षीण होता है और अन्तमें मर जाता है । ये छः विकार शरीर-संसारमें ही होते हैं, आत्मामें नहीं । कारण कि आत्मा न जन्मता है, न पैदा होकर सत्तावाला होता है, न बढ़ता है, न बदलता है, न क्षीण होता है और न मरता ही है (२ । २०)।

गीतामें जहाँ-जहाँ शरीर और संसारका वर्णन है, वह सब 'विकारी सत्ता'का वर्णन है और जहाँ-जहाँ परमात्मा और आत्माका वर्णन है, वह सब 'अविकारी सत्ता' का वर्णन है ।

कहानी

संकल्प-सिद्धिकी आतुरता

'अब तो नहीं चला जाता भगत !' कहते हुए सहसा रुककर मोतीबाई खड़ी हो गयी, उसके श्रमित-शिथिल पैरोंका कम्पन हाथमें पकड़ी हुई प्रकम्पित लाठीसे होड़ ले रहा था ।

दो कदम ही आगे बढ़कर भगत खड़ा हो गया ।

'उत्साह रखो ।' ये शब्द भगतके मुँहसे निकल तो गये; किंतु पीछे मुड़कर उसने मोतीबाईकी ओर देखा तो उसकी अनुभवी आँखोंने भाँप लिया कि अब उत्साह रखना मोतीबाईके लिये अशक्य था । उसके पैर डगमगा रहे थे और सिरके ऊपर रखी गठरी भी हिल-डुल रही थी । भगतने अपने सिरका भार नीचे रखा और अपनी पत्नी मोतीबाईके सिरकी गठरी सँभालते हुए पूछा—'बहुत थक गयी हो क्या ?'

मोतीबाईमें उत्तर देनेकी भी शक्ति न थी । उसने लाठी एक ओर फेंक दी और भगतके कंधेपर हाथ रखकर सहारा लेती हुई उसकी ओर असहाय दृष्टिसे देखने लगी । उसकी आँखोंमें निराशा झलक रही थी ।

'तुम इस तरह निराश हो जाओगी तो गाड़ी कैसे चलेगी ? जो संकल्प लिया वह पूरा कैसे होगा ? उसे पूरा करना है या नहीं ?' भगतके सान्त्वनापूर्ण प्रेरक शब्द थे ।

'संकल्प !' मोतीबाईने कठिनतासे दुहराया । उसने संकल्पका विचार करते ही रही-सही शक्ति लगाकर पुनः चलनेका प्रयत्न किया; परंतु शारीरिक शक्तिने साथ नहीं दिया । वह नीचे बैठ गयी । भगतने पत्नी-को थोड़ा जल पिलाया और कहा—'साहस रखो, उत्साह बढ़ाओ, अभी अपना मार्ग बहुत लम्बा है । गन्तव्यके मध्यमार्गमें स्थित इस जंगलमें इस प्रकार निराश होकर बैठ जाओगी तो यहाँ कौन है अपना ?'–भगतने कहा।

'हमारे सर्वस्व पंढरीनाथ हैं न ?'—मोतीबाई बोल पड़ी ।

'पंढरीनाथ तो सभीके हैं । वे तो सबकी सँभाल रखते ही हैं' कहते हुए भगतकी दृष्टि उस सुनसान परिवेशके चारों ओर घूम गयी—'यह जनशून्य घोर जंगल ! अपरिचित देश ! आस-पास कितने वन्य जीव-जन्तु तथा हिंसक पशुओंका निवास-स्थान होगा यहाँ, इसका हमें कहाँ पता ? कुछ विश्राम लेना हो तो ले लो । पुनः यहाँसे शीघ्र चलना प्रारम्भ कर देना होगा । सायंकाल होनेसे पूर्व ही यदि किसी गाँवके समीप पहुँच जायँ तो अच्छा रहेगा । तुम्हारी गठरी मैं ले लेता हूँ । तुम धीरे-धीरे चलो । 'पग बढ़ानेसे ही मार्ग कम होता है'—ऐसी कहावत है ।'—चिन्तातुर भगतने शान्त-भावसे समझाया ।

'भगत !' मोतीबाईके स्वरमें पीड़ा थी, ऐसी पीड़ा कि सुननेवाले द्रवित हो जायँ । सम्पूर्ण स्नेह नेत्रोंमें समेटकर भगत उसकी ओर देखने लगा ।

'मुझे प्रतीत होता है भगत ! मेरा अन्तिम विश्राम यहीं होगा ।' मोतीबाईने रुँधे हुए कण्ठसे कहा । उसके नेत्रोंसे अश्रुओंका प्रवाह चल रहा था ।

'अरे रे ! तुम यह क्या कहती हो ? मत बोलो यह सब और न सोचो इतना निराश होकर'—ऐसा कहते हुए भगत मोतीबाईके समीप आ गया । पत्नीकी पीठपर हाथ फेरते स्नेह-विह्वल हो सान्त्वनाके भावसे आत्मीयता प्रदर्शित करते हुए भगतके नेत्र भी सजल हो गये ।

× × ×

मोतीबाई अब वृद्धा हो गयी थी । इससे पूर्व और अब भी वह बहुत सुन्दर भजन गाती थी । पूरे दिन पतिके साथमें पेटका गड्ढा भरनेको मेहनत-मजदूरी करती, परंतु रात्रिमें जब उड़ती धूल भी विश्राम ले लेती, तब वह एकतारा हाथमें लेकर बड़ी तन्मयतासे हरिके गुण-गान किया करती । कण्ठ भी सुरीला था, अवस्था भी

उस समय अधिक नहीं थी। मोतीबाई भजन गाते-गाते घड़ीभरमें इतनी तल्लीन हो जाती कि कुछ समयके लिये वह इस जड जगत्को भूल जाती।

'मैं दर्शनकी प्यासी, मैं दर्शनकी प्यासी। हरि! दर्शन दीजे आय।'—यह भजन प्रारम्भ होता तो भगत उसके सामने बैठकर भाव-विभोर हो मँजीरा बजाते हुए 'हरि! दर्शन दीजे।' भजनको विशेष स्वर देता। उस समय आस-पासके पड़ोसियोंकी आँखोंमें समायी हुई निद्रादेवी भी अपना धर्म छोड़कर दर्शनकी लालसामें कहीं अदृश्य हो जातीं। 'हरि! दर्शन दीजे आय'—जैसे भक्ति-गीतोंका स्वर रात्रिके तीसरे पहरतक चलता रहता। तब कहीं पति-पत्नी मँजीरा और एकताराको विश्राम देकर वहीं सो जाते। इस प्रकार उनका यह नित्यका नियम था। मोतीबाईके सुरीले कण्ठ और चित्तको बाँधनेवाले भक्तिभावपूर्ण भजनोंकी प्रशंसा बहुत दूर-दूरतक फैल गयी थी। लोग उसके भजन सुनने आते और गाते समय गद्‌गद कण्ठसे सराहना करते। मोतीबाईको इससे प्रसन्नता होती। इससे हरिके गुणगान करनेमें उसे और भी अधिक उत्साह मिलता।

एक बार कुछ यात्री उन दम्पतिको पंढरपुर ले गये। पंढरीनाथके सांनिध्यमें भजन-कीर्तनका आयोजन किया गया। कार्यक्रमकी पूर्णाहुतिपर श्रद्धालु उदार-चेताओंकी ओरसे बहुत-सा धन दानमें दिया गया, किंतु मोतीबाई तथा उसके पतिको मात्र वाहन-व्यय ही प्राप्त हुआ। शेष सभी धन सहयात्रियोंने हथिया लिया। यह जानकर पति-पत्नीको बड़ा क्लेश हुआ। इस घटनाके पश्चात् इन दम्पतिको अनेक बार भजन-कीर्तन-हेतु पंढरपुर आनेका आमन्त्रण प्राप्त होता रहा; पर वे अस्वीकार करते रहे।

फिर भी उन दम्पतिने संकल्प किया था कि 'शरीर छूटनेके पूर्व एक बार किसीकी सहायता लिये बिना पंढरपुर अवश्य जाना है। वहाँ जाकर विट्ठल प्रभुके समक्ष बैठकर उनके गुणानुवाद गाना है।' यह संकल्प किये तो बरसों बीत गये; दिन-प्रतिदिन उनकी आर्थिक स्थिति गिरती गयी। शारीरिक शक्ति भी घटती चली गयी। नेत्रोंकी ज्योति भी अब मन्द पड़ने लगी थी।

'भगत! अपना संकल्प स्मरण है न?'—एक दिन मोतीबाईने पतिसे पूछा।

'हाँ! उसे कैसे भूल सकता हूँ?'—भगतने उत्तर दिया।

'तो अब तैयारी की जाय, शरीरका क्या ठिकाना।'—मोतीबाईने कहा।

'यह बात भी सत्य है।'—भगतने स्वीकार किया।

'तो कब?'—मोतीबाईने पूछा।

'शीघ्र ही! शुभकर्ममें विलम्ब और प्रमाद क्यों हो?'—भगतने उत्साह बढ़ाया।

'परंतु यात्रा-खर्चके लिये कुछ पासमें है?'—पत्नीका प्रश्न था।

'है तो नहीं, पर हरि विट्ठल देंगे; तैयारी करो और विश्वास रखो।'—भगतने सान्त्वना दी। उस दिन सचमुच ही भगवान् विट्ठलके भरोसे ये दम्पति पंढरपुर जानेको निकल पड़े। जबतक पैसा पासमें रहा तबतक वाहनोंका उपयोग किया। पैसा कम पड़नेपर पैदल यात्रा प्रारम्भ कर दी। सर्दी-गरमी सहन करते, कण्टकाकीर्ण मार्ग और जनशून्य जंगलोंको पार करते हुए मार्गमें मिलनेवाले सत्पुरुषोंकी सहानुभूति और दुष्टोंकी उपेक्षा धैर्यपूर्वक सहन करते हुए वे आगे बढ़ते रहे। प्रकृतिकी विचित्रताओंका अनुभव और अवलोकन करते, विट्ठल प्रभुका स्मरण करते वे धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। मन-मस्तिष्कमें बस एक ही संकल्प था—'शरीर छूटे उससे पूर्व किसी प्रकार एक बार श्रीप्रभुकी मङ्गलमूर्तिके सांनिध्यमें बैठकर हरि-गुण-गानद्वारा उन्हें प्रसन्न करना है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य अभिलाषा नहीं, दूसरी कोई आकाङ्क्षा नहीं।' इस संकल्पको हृदयमें दृढ़ करके भगत-दम्पति

मार्ग तय कर रहे थे । मोतीबाई आज लम्बा मार्ग तय करनेके पश्चात् वास्तवमें बहुत थक गयी थी । उसकी शक्तिका पुञ्ज क्षीण होने लगा था । उसके अन्तःकरणसे ध्वनि उठ रही थी—'शरीर अब आगे बढ़ना अस्वीकार करता है ।'

मोतीबाई अब यही ध्वनि बराबर सुनने लगी । प्रोत्साहन देनेवाले भगतके शब्दोंका उसपर कुछ प्रभाव न हुआ । मात्र संकल्पका ध्यान उसके हृदयमें निरन्तर व्याकुलतापूर्ण चेतना प्रदान करता रहता । 'पहुँच नहीं सकेंगे ?' ऐसा संदेह भी उसके मनमें हो आता । मोतीबाईने पूरी शक्ति लगाकर उठनेका प्रयत्न किया; परंतु सफलता न मिलनेसे वह हताश होकर वहीं पड़ गयी ।

'हाँ-हाँ' कहते हुए भगत उसे सँभालने लगे ।

कुछ समय पश्चात् स्वस्थ होनेपर मोतीबाईने गद्गद कण्ठसे कहा—'भगत ! भजनमें कमी रह गयी है ।'

'कमी !'—भोले पतिने साश्चर्य पूछा ।

'हाँ, कमी रह गयी है ।'—मोतीबाईके स्वरमें गहरी व्यथा थी ।

'मैं समझ सकूँ, ऐसा तो बोलो'—भगतकी वाणीमें आतुर जिज्ञासा थी ।

'भगत ! मैं अपनी बात कहती हूँ । आप तो ठहरे सरल-हृदय प्रभु-भक्त । आपने प्रभुका गुणगान भक्तिभावसे किया है । मुझमें ही कमी रह गयी है ।'—मोतीबाईका सहज उत्तर था ।

'तुममें कमी ? मैं नहीं समझा, मुझे विश्वास नहीं होता ।'—भगतने पुनः जिज्ञासा की ।

'मैं सच कहती हूँ ।'—मोतीबाईने अपनी बात फिर दुहरा दी ।

'वह कैसे ?' भगतके आश्चर्यका ठिकाना नहीं था । वह अवाक् बना विस्फारित आँखोंसे मोतीबाईकी ओर एकटक देख रहा था ।

'आप जानते हैं कि मेरा कण्ठ सुरीला है । मेरे गलेकी मिठास आकर्षित करनेवाली है । अच्छे-अच्छे भजनोंकी मैं जानकार हूँ । मैं भजन गाने बैठती तो लोग दूर-दूरसे सुनने आया करते और जो निकट नहीं आ पाते थे, वे दूरसे ही मेरा भजन सुनकर एकटक कान लगाये बैठे रहते । मुझे इस बातका गौरव था, गर्व था । आप जब एकतारा लेकर भजन गाते, तब मैं मँजीरा बजाती थी, मँजीरा बजाते-बजाते भाव-विभोर हो जाती, झूम-झूमकर मँजीरा बजाती और आपके स्वरमें स्वर मिलाती, अपने देहकी विचित्र-विचित्र भङ्गिमाएँ प्रदर्शित करती । उस समय, सच कहती हूँ भगत ! मेरा चित्त प्रभुके चरणोंमें रहता ही न था । लोग मुझसे कितने प्रभावित हैं और उनकी वाणी 'वाह ! मोतीबाई वाह !' कह रही है, इसी बाह्य प्रशंसाके आकर्षणमें तथा मोह-जालमें मैं निमग्न रहती । हरि-भक्तिमें पूर्णतः एकाकार-एकरस नहीं हो पाती थी । यह मेरी निर्बलता थी, बड़ी भारी कमी थी ।' —मोतीबाईने अपनी कमी स्पष्ट कर दी ।

भगत तो अवाक् बने सुन रहे थे । विश्वास न किया जा सके ऐसी अकल्पित बात मोतीबाई कह रही थी और ऐसा कहते हुए पश्चात्तापके अश्रु उसकी शुष्क मुखाकृतिको गीलाकर सजलता प्रदान कर रहे थे ।

'मैंने सुना है कि जबरदस्ती दबाया हुआ भाव तथा जीवनभर बलात् छिपाकर रखी हुई कमजोरी अन्ततः जीवनके अवसानके समय अवश्य प्रकट हो जाती है । यह मनुष्यको विचित्र असहाय-अवस्थामें छोड़ देती है । मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ है ।'—मोतीबाईने पश्चात्ताप करते हुए कहा ।

'क्या कह रही हो ?'—भगत घबराकर बोल उठा ।

'मेरा संकल्प पूरा नहीं होगा ।' निराश-हताश मोतीबाईने लम्बी साँस छोड़ते हुए कहा, 'कारण कि मैंने भगवान्‌की उपेक्षा की है । मैं अपने अहंकी मस्तीमें थी । मुझे इसका फल भोगना होगा ।'

'जाने-अनजानेमें किया हुआ हरिकीर्तन कभी निष्फल नहीं जाता मोतीबाई ! तुम निराश मत हो । भगवान्

सबका कल्याण ही करते हैं ।'---भगतने आश्वासन दिया ।

'भगवान् सबका भला या कल्याण ही करते हैं' यह बात मैं भी मानती हूँ और इसीलिये तो मैं कहती हूँ कि 'आज हम यहीं विश्राम करें---इस विकट वनमें ही । आप आस-पास घूमकर थोड़ी लकड़ी इकट्ठी कर लें । रात्रिमें धूनी जगानेकी आवश्यकता पड़ेगी । अब दिन थोड़ा ही शेष रहा है, शीघ्रता करें, जबतक आप आयेंगे तबतक सम्भव होगा तो मैं यहाँ आस-पासका स्थान साफ कर लेती हूँ ।'--मोतीबाईने सुझाव दी ।

भगतने पत्नीकी आँखोंमें एक अडिग निश्चयकी दृढ़ता देखी और वह लकड़ी तथा पानीकी तलाशमें चल पड़ा । उसे जाते देखकर मोतीबाईने ऐसा निःश्वास छोड़ा जिसे सुनकर किसीका भी हृदय द्रवीभूत हो जाय ।

'कितने भोले जीव हैं ये ! इन्होंने तो मुझे सदा शुद्ध सोना ही समझा । आज उन्हें पता लगा कि मैं पीतल हूँ, फिर भी मेरे प्रति इनके व्यवहारमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ । अरे ! मुझपर ऐसे भोले मनुष्यका भी रंग नहीं लगा ।' परितापसे पीड़िता वह महिला मन-ही-मन रो पड़ी ।

बहुत देर पश्चात् लकड़ीका गट्ठर लिये हुए भगत लौटा । 'पानी तो यहीं पासमें ही है'---कहते हुए उसने गट्ठर नीचे उतारा । विश्राम करनेके लिये वह पत्नीके समीप आकर बैठा, तब भी मोतीबाईकी आँखें सजल थीं ।

'तुम इतनी निराश क्यों होती जा रही हो ? दृढ़ता रखो और श्रीहरिमें अटल विश्वास करो ।'---भगतने समझाते हुए कहा ।

मोतीबाईने भगतके चरणोंकी ओर दृष्टि डाली, मानो वह उसके चरणोंमें वन्दना कर रही हो । अब संध्या हो चली थी । रहा-सहा प्रकाश भी अदृश्य हो गया । पक्षियोंका कलरव भी शान्त हो गया । अँधेरा बढ़ने लगा । हिंसक पशुओंकी भयानक आवाजें सुनायी देने लगीं । रात्रि अपनी समस्त कलाओंके साथ इस जंगलमें भयानक रूप धारण कर रही थी । विशाल वटवृक्षके तनेका सहारा लेकर मोतीबाई बैठी है । सामने सुलगती धूनीको भगत इधर-उधर उलट-पलट कर रहा था ।

'भगत ! एकतारा दीजिये ।' मोतीबाईने कहा । भगतने तुरंत एकतारा उठाकर मोतीबाईके हाथोंमें पकड़ा दिया । एकतारा गोदमें रखकर उसकी अँगुलीने तारेकी झंकार दी । स्वरने उत्तर दिया---'तूँ ही ····तूँ ही ।'

इस 'तूँ ही'की मूक वन्दना करके मोतीबाईने मुक्तकण्ठसे गाना प्रारम्भ किया---**'अब रखिये लाज हमारी'** । भगतने भी मँजीरा हाथमें लिया और मोतीबाईके स्वरमें स्वर मिलाया ।

मोतीबाईकी दृष्टि धूनीके उस पार फैले निबिड़ अन्धकारकी ओर लगी है । जैसे आज उसकी आँखें अन्धकारकी चादरका भेदन कर कुछ ढूँढ़ रही हों । उस समय उसका अपना पृथक् व्यक्तित्व नहीं और दम्भकी छाया भी नहीं है । पश्चात्तापके जलसे स्वच्छ हुए नेत्रोंमें आज निर्मलताका आवास है । हृदय हलका हो गया है । उसी क्षण भगतने अनुभव कर लिया कि आजकी मोतीबाई दूसरी ही है । उत्साहित होकर उसने स्वर अलापा---

'लाज हमारी, गिरधारी ! कीजिये भवजल पार ।'

मोतीबाईने साथ दिया---

'रखिये लाज हमारी, शरण मैं आयी ।'

स्वर अन्धकारमें प्रवाहित होने लगा । शब्द अलक्ष्यको ढूँढ़ने लगे और मोतीबाईके हृदयकी उड़ानमेंसे जीवनभर छिपाकर रखी दम्भकी कठोर शिला गलने लगी । स्वर हृदयको वेधकर बाहर निकलने लगा । मोतीबाईकी आँखें अनन्तमें निरन्तर-भावसे कुछ ढूँढ़ रही थीं ।

'मोतीबाई ! पानी पीओगी ?' भगतने पुकारा; परंतु मोतीबाईकी एकाग्रता भंग नहीं हुई । उसकी आँखें कोई दिव्य दृश्य देख रही थीं । साक्षात् विट्ठल भगवान्

उसके समक्ष प्रकट होकर मन्द-मन्द हँस रहे थे। उस परम मङ्गलकारी मूर्तिको आँखोंके सामनेसे थोड़ी देरके लिये भी ओझल न करनेके लिये मोतीबाई आँखोंकी पल्क नहीं गिरा रही थी, गिराना भी नहीं चाहती थी।

'तुम बिन मेरा कौन दयानिधि'—युग-युगकी अतृप्त इच्छा मोतीबाईके कण्ठसे पुनः प्रसारित हो रही थी। भगत मुग्ध-भावसे मोतीबाईकी ओर देख रहा था। वह अकेला ही इस प्रकार मन्त्र-मुग्ध-सा मोतीबाईको नहीं देख रहा था—अपितु बिलोंमेंसे बाहर आये हुए सर्प, गुफासे निकलकर नम्र बने बैठे हुए पशु, नीलगाय, सियार, शशक, हरिण—सभी अपने-अपने स्थानोंपर अपना स्वभाव छोड़कर मुग्ध बने मोतीबाईको देख रहे थे। वातावरणमें मानो कोई दिव्य परिवर्तन हो गया हो। आज वनचर भी मानो अपने सृजनकर्ताका स्तवन भक्त-दम्पतिके साहचर्यमें कर रहे थे।

पूरी रात मोतीबाईने प्रभुका गुणगान किया। जब अन्धकार फटने लगा तब मोतीबाईका कण्ठ मन्द पड़ा। अँगुलियाँ एकतारेके ऊपर ठहर गयीं। मस्तक धड़पर झुक गया। मोतीबाईकी आँखें, जो अबतक अनन्त आकाशमें देख रही थीं, धीरे-धीरे बंद होने लगीं। भगतने यह परिवर्तन देखा तो वह चौंक पड़ा।

'मोतीबाई! मोतीबाई!!' उसने आतुरतासे पुकारा और जलपात्र उठाकर मोतीबाईके अधरोंके समीप लाकर पानी पिलानेका प्रयास किया; परंतु मोतीबाईके अधर हिले ही नहीं।

'मोतीबाई! साध्वी! मेरी जीवनसहचरी!!'—भगत व्याकुल होकर पुकारने लगा।

मोतीबाईने आँखें नहीं खोलीं। इन आँखोंने रात्रिभर श्रीप्रभुजीकी मङ्गलमूर्तिके ही दर्शन किये थे। उनकी वही रूपमाधुरी उन आँखोंमें समा गयी थी। अब वे अन्य कुछ देखनेको कब खुलनेवाली थीं? वे आँखें जो न खुलती थीं, फिर खुलीं ही नहीं। अन्तिम बार उसने हरि-गुणगान कर अपनी एकमात्र साध पूरी कर ली थी। अब दूसरा कुछ बोलनेके लिये अधर ही क्यों खुलनेवाले थे? वाणी सेवाके लिये मूक हो गयी थी। चेतनाने अनन्तसे सम्बन्ध जोड़ लिया था और उसीमें लीन होनेके लिये वह चल पड़ी थी।

भगतके समक्ष तो मोतीबाईका निश्चेतन शरीर था, जिसका प्राणदीप बुझ चुका था और एक ज्योति सदाके लिये परम ज्योतिमें लीन हो चुकी थी।

'अरे! तुमने मुझे अकेला छोड़ दिया, मोतीबाई!' भगत अश्रुप्रवाह रोक न सका।

मोतीबाईके मृतक शरीरका अग्निदाह करके भगत पंढरपुरके मार्गपर आगे बढ़ा। उसकी गतिमें तेजी थी। किसीके साथ कोई बात करनेमें अब वह समय नष्ट नहीं करना चाहता था। वह विरक्तिसे भरा था। बाह्य जगत्से अनभिज्ञ बना वह अपने लक्ष्यकी ओर तेजीसे आगे बढ़ रहा था। उसकी एकमात्र इच्छा शीघ्र-से-शीघ्र पंढरपुर पहुँचकर भगवान्से यह पूछनेकी थी कि 'विट्ठल! आपके पासतक आनेकी मोतीबाईकी हार्दिक इच्छा थी, आतुर आकाङ्क्षा थी। वह पहुँच नहीं सकी। उसका संकल्प सिद्ध नहीं हो सका; परंतु मार्गमें उस रात्रिको उसने हृदयसे आपका गुणगान किया है। मैं उसका साक्षी हूँ। वह गुणगान जिस प्रकारसे किया गया, वैसा किया हुआ यह स्तवन आपतक पहुँचा है या नहीं? यह कृपा कर बता दीजिये! मेरी मोतीकी आत्माको शान्ति मिलेगी?'

यही पूछनेके लिये भावुक भक्त तीव्रतासे दौड़ता हुआ चला जा रहा था। उसका अपने विट्ठल प्रभुपर पूर्ण विश्वास है कि 'अवश्य ही प्रभुसे समाधान मिलेगा।' तभी तो वह निर्द्वन्द्वभावसे अपनी और अपनी भार्याकी संकल्प-सिद्धिके परीक्षणके लिये भगवान्के ध्यानमें मग्न हुआ, उस बीहड़ पथमें बेतहाशा भागा चला जा रहा था।

(अनु०—श्रीरजनीकान्तशर्मा)
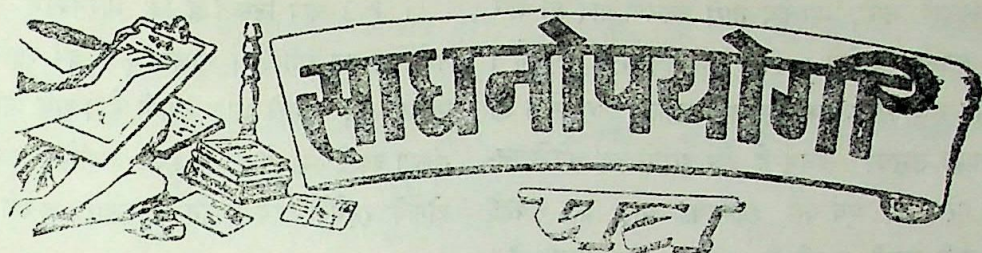
(१)

शाश्वत शान्तिके केन्द्र भगवान् हैं

प्रिय बहन ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः यों हैं—(१) आप एक भावनामय जगत्‌में विचरण कर रही हैं। इस आयुमें ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है। अभी आपके सामने जीवनका एक विशाल क्षेत्र पड़ा है, जहाँ मनोहर उद्यान भी है और कण्टकाकीर्ण वन भी। कोमल समतल भूमिपर भी चलना है और दुर्गम गिरिगह्वरको भी पार करना है। आप दोनों परिस्थितियोंमें समान-रूपसे प्रसन्न रह सकें—इसके लिये अभीसे तैयारी कर लेनी है। शाश्वत और सनातन आश्रयकी खोज आपकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये शुभ चिह्न हैं। आप अभी कुमारी हैं। इसके बाद आपके सामने एक नयी दुनिया होगी, जिसके प्रति प्रत्येक युवक-युवतीका आकर्षण होता है। जीवनके कितने ही सपने और अधूरी आशाएँ लेकर नारी उस नूतन संसारमें प्रवेश करती है और अपने प्रेम, त्याग, बलिदान और तपस्यासे वहाँ स्वर्गको उतार देती है। आप उस जीवनसे कुछ भयभीत भी जान पड़ती हैं उसके प्रति आपके मनमें कुछ अच्छे भाव नहीं हैं, कदाचित् अशान्तिका यह भी कारण हो। शाश्वत शान्तिके केन्द्र हैं—भगवान्, जो सदा सबके हृदय-मन्दिरमें विराजमान हैं। शान्ति उनके चरण चूमती है, उसी शाश्वती शान्तिके स्पर्शसे मनमें शान्ति आती है। जगत्‌में कोई स्थान, कोई परिस्थिति या कोई साधन शान्तिका निकेतन नहीं है। आपको इस जीवनमें किसने भेजा है ? भगवान्‌ने। आपके अन्तरमें इतनी भावनाओंकी सृष्टि कौन कर रहे हैं ? भगवान्। मनुष्य भगवान्‌के हाथोंका खिलौना है। वे ही जब, जहाँ, जिस जीवनमें रखेंगे, रहना होगा। आपको सीता, सावित्री, दमयन्ती आदिके जीवनसे शिक्षा और प्रेरणा लेनी चाहिये। नारी स्नेह, वात्सल्य, उदारता, सेवा और त्यागकी प्रतिमूर्ति होती है, आपको भी ऐसा ही बनना चाहिये। इसीमें आपकी शोभा है। निःस्वार्थ त्याग, स्नेह और सेवामें जो सुख और शान्ति है, उसकी सुमधुर अनुभूति तभी आप कर सकेंगी। भगवान्‌का स्मरण करके सर्वत्र उन्हींको देखना और वे जिस परिस्थितिमें डाल दें, उसीमें संतुष्ट रहना—यही शान्तिका पथ है।

(२) दर्शन और ज्योतिष आपके प्रिय विषय हैं, इन्हें आपसे कौन छीनेगा ? आप भगवान्‌से प्रार्थना करें। उनकी कृपासे आप ऐसे घरमें जा सकती हैं, जहाँ आपकी इस सुरुचिको आदर और प्रोत्साहन प्राप्त हो सके। आजीवन ब्रह्मचर्य आजकल किसी भी नर-नारीके लिये सहज सम्भव नहीं है; परंतु गृहस्थ रहकर भी अधिक-से-अधिक संयम और यथासाध्य ब्रह्मचर्यका पालन किया जा सकता है। आपको यह नहीं भूलना चाहिये कि आप सब कुछ होनेके साथ ही नारी भी हैं। आपका हृदय मातृत्वका हृदय है। अतः आपको

एक आदर्श नारी, भारतीय नारी बननेके बाद ही और कुछ बनना चाहिये। विद्या 'स्वान्तःसुख'के लिये है। भारतीय नारीकी प्रधान साधना सतीत्व और सेवा ही है। यही उसका स्वधर्म है और इसीसे वह योगिजन-दुर्लभ परम पद एवं परा शान्तिको प्राप्त कर सकती है। नारी नरकी जननी है, नरका महान् आश्रय है। नारीका स्थान बहुत ऊँचा है। उसका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है।

(३) अधिक चिन्तनसे भ्रूमध्यमें सिहरनकी प्रतीति होती है। चिन्ता और चिन्तन दोनों कम करके प्रसन्न रहनेकी चेष्टा करें।

(४) नारीके लिये सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय ही सत्सङ्ग है। जिन विचारोंमें तल्लीन होकर आप अपनेको पागलकी-सी स्थितिमें अनुभव करती हैं वे हैं ही वैसे। भविष्यमें प्रतिकूलताकी आशङ्का या भावना करके बराबर चिन्ताशील बनना जीवनके विकास और उल्लासको अवरुद्ध और मूर्च्छित करना है। मनुष्यको अपने भीतर आशा और उत्साह भरना चाहिये, व्यर्थकी चिन्ता नहीं। आप भगवान्पर और भगवत्कृपापर भरोसा रखें। वे सभीके सहज सुहृद् हैं। आपके भी आत्मा हैं। उन मङ्गलमय प्रभुकी दयासे आपका भविष्य मङ्गलमय होगा तथा वे आपके जीवनको सर्वोच्च लक्ष्यपर भी पहुँचायेंगे—ऐसी दृढ़ आस्था और निश्चित आशा रखते हुए आपको सतत प्रसन्न रहना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(२)

जन-संख्याकी वृद्धि, अन्नकी कमी और भ्रष्टाचारमें रुकावट कैसे हो ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला था। आपके तीनों प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें क्रमशः नीचे लिखे जाते हैं—

(१) आप लिखते हैं कि भारतवर्षमें जनसंख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। आजसे कुछ वर्ष पहले जितनी संख्या थी, उससे आज दुगुनी है। इसी क्रमसे जन-संख्या बढ़ती गयी तो इतना अन्न कहाँसे आयेगा तथा लोगोंके रहनेके लिये जमीन भी कहाँसे आयेगी ?

इसका यथार्थ उत्तर तो यह है कि इसकी चिन्ता विश्वनियन्ता भगवान् करेंगे। वे कब कहाँ जनसंख्या घटानी-बढ़ानी है, इसकी भी व्यवस्था आप ही कर देते हैं और सबके रहने तथा पेट भरनेका साधन भी जुटा देते हैं। परंतु बाहरी तौरपर हमारे करनेके भी कुछ उपाय हैं, उन्हें हमें तथा हमारी सरकारको करना चाहिये। वे उपाय ये हैं—

(क) जीवनमें संयम हो, एक संतानके पश्चात् दूसरी संतान कम-से-कम छः वर्षके पहले उत्पन्न न हो, पचास वर्षके बाद संतान उत्पन्न न की जाय, इसके लिये संतति-निरोधके कृत्रिम साधनोंका प्रयोग न करके संयम तथा ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया जाय तो जन-संख्याकी वृद्धिमें बहुत कुछ रुकावट आ सकती है।

(ख) भारतमें अब भी करोड़ों एकड़ भूमि बिना जोते पड़ी रहती है। उस भूमिको ठीक करके अन्न उपजाने योग्य बनाया जाय और उसमें खेती की जाय। यह काम सरकार ही करा सकती है।

(२) जब देशमें धर्मकी भावना थी, शास्त्रमें विश्वास था, तब लोग व्रत-उपवास करते थे। इससे अन्नकी बहुत बचत हो जाती थी। 'कल्याण'के पुराने अङ्कोंमें महात्मा नारायण स्वामीजीकी सूचना छपी थी कि महीनेमें चार उपवास (दो एकादशी, अमावस्या और पूर्णिमा) अवश्य किये जायँ। इससे पुण्यलाभ तो निश्चित है ही, स्वास्थ्यमें भी बड़ा लाभ होता है। पर ज्यों-ज्यों धर्म-भावना हटी, त्यों-ही-त्यों व्रत-उपवास भी घट गये।

यदि अब भी धर्मके आधारपर इसका प्रचार हो जाय और आधुनिक मनुष्योंमें आवे मनुष्य भी चारों दिन उपवास करने लगें तो सहज ही अन्नकी बचत हो सकती है। पर आज तो धर्मके नामसे ही घृणा पैदा करायी जाती है और उसे साम्प्रदायिक बताया जाता है, तब कैसे कार्य हो ?

(३) आप लिखते हैं कि इतने नये-नये कानून बनाये जाने और इतना उपाय करनेपर भी घूसखोरी और चोरबाजारी बंद नहीं हो रही है, इसके बंद होनेका सरल उपाय क्या है ?

सो इनके बंद होनेका सरल उपाय है—'धर्ममें विश्वास, भगवान्में विश्वास।' जबतक मनुष्य पापको पाप मानकर एकान्तमें भी उसके करनेमें नहीं हिचकेगा तबतक कानूनसे पाप नहीं रोका जा सकता। दुष्कर्मसे घृणा होनी चाहिये, तभी मनुष्य उससे बचता है। उसमें गौरव-बुद्धि हो जाय तब तो कोई उपाय ही नहीं है। ऐसी स्थितिमें कानून मानने और मनवानेवाले स्वयं ही कानून तोड़नेका रास्ता निकाल लेते हैं और किताबोंमें कानूनके रहते और कहीं-कहीं, जहाँ परस्पर मेल न हो सकता हो—कानूनी कार्यवाही होते रहनेपर भी पाप बंद नहीं होता। इसके लिये आवश्यक है कि 'धर्म और भगवान्में विश्वास हो, दुष्कर्मसे घृणा और भय हो।' आज ये दोनों ही बातें बुरी तरह घट रही हैं। तब क्या उपाय है। इसका तो यही उपाय होगा कि पाप करते-करते मनुष्य जब गिर जायगा और पापके अनिवार्य परिणाम भीषण संतापको प्राप्त होगा, तब उसे चेत होगा—तभी भगवत्कृपासे मानव-जातिका यह महान् संकट दूर होगा।

वस्तुतः सारी विपत्तियोंके नाशका एकमात्र उपाय है 'सच्चे मनसे भगवदाश्रय'। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(३)

प्रिय महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण। साधारण मनुष्य शरीरादि वस्तुओंके सङ्गसे दुःख मिटाना चाहते हैं, परंतु ऐसा करनेसे दुःख किसी प्रकार मिट नहीं सकता, क्योंकि शरीरादिके सङ्गसे चाह उत्पन्न होती है, जो दुःखका मूल है। दुःखका कारण मिट जानेपर फिर दुःख उत्पन्न नहीं होता और जो दुःख उत्पन्न हो चुका है, वह अपने-आप शान्त हो जाता है; क्योंकि इंधनरहित अग्नि स्वयं बुझ जाती है। यह समझ लें कि दुःख आपका बनाया खिलौना है। यदि आप चाहें तो तोड़ सकते हैं। ऐसा कोई दुःख नहीं है जो मिट न सके; क्योंकि जो वस्तु स्वरूपसे सत्य होती है, वह मिट नहीं सकती। दुःख वास्तवमें स्वरूपसे सत्य नहीं है; प्रत्युत अविचारके कारण सत्य-सा मालूम होता है।

देखें, यदि आपको अपनेसे सबल कोई व्यक्ति न मालूम हो तो आप दुःखका अनुभव नहीं कर सकते और यदि आपको अपनेसे निर्बल कोई न मालूम हो तो आप सुखी न होंगे। अतः सिद्ध हुआ कि सुख और दुःख आप अपनी परिस्थितिके अनुसार बना लेते हैं। कोई भी सांसारिक परिस्थिति सत्य नहीं है। अतः सुख-दुःख सत्य नहीं हैं। यदि आपको वह अवस्था प्राप्त हो कि आप न किसीसे सबल हैं, न निर्बल तो आप सुख-दुःखका अनुभव नहीं कर सकते, अर्थात् किसी प्रकारका दुःख नहीं रह सकता। आनन्द, आनन्द, आनन्द !

शक्तिके कुछ अवतार

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

(५)

महासरस्वतीका अवतार

तदनन्तर आगे महामुनि मेधा राजा सुरथ और समाधि वैश्यको महासरस्वतीका चरित्र सुनाने लगे।

प्राचीनकालमें शुम्भ और निशुम्भ नामक दो परम पराक्रमी दैत्य उत्पन्न हुए थे। तीनों लोकोंमें उनका भय व्याप्त हो गया था। उनके अत्याचारोंसे प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही थी। उन दोनों भाइयोंने इन्द्रके राज्यको तो हथिया ही लिया था, यज्ञ-भागका भी अपहरण कर लिया था; सूर्य, चन्द्र, कुबेर, यम और वरुणके अधिकार भी छीन लिये थे तथा देवताओंको अपमानित कर स्वर्गसे निकाल दिया था। तब देवताओंने भगवतीकी शरण ली। हिमालयपर जाकर उन्होंने रुँधे कण्ठसे भगवतीकी स्तुति की। उनकी स्तुतिसे पार्वतीदेवी प्रसन्न हो गयीं और बोलीं—'आपलोग किसकी स्तुति कर रहे हैं?' इसी बीच उनके शरीरसे सुन्दर कुमारी प्रकट हो गयीं। वे बोलीं—'माँ! ये लोग मेरी ही प्रार्थना कर रहे हैं। ये शुम्भ और निशुम्भ दैत्योंसे अतिशय प्रताड़ित और अपमानित हैं, अतः अपनी रक्षा चाह रहे हैं।'

पार्वतीके शरीरकोशसे वे कुमारी निकली थीं, इसलिये उनका नाम कौशिकी पड़ गया। ये ही शुम्भ और निशुम्भका नाश करनेवाली महासरस्वती हैं। इन्हींके अन्य नाम उग्रतारा और महेन्द्रतारा भी हैं। माता पार्वतीके शरीरसे उत्पन्न होनेके कारण उनका नाम मातङ्गी भी है। उन्होंने समग्र देवताओंसे प्यारभरे शब्दोंमें कहा—'तुमलोग निर्भय हो जाओ। मैं स्वतन्त्र हूँ। अतः किसीका सहारा लिये बिना ही तुमलोगोंका कार्य कर दूँगी। तुमलोग अब निश्चिन्त हो जाओ।' इतना कहकर देवी अन्तर्धान हो गयीं।

एक दिन शुम्भ और निशुम्भके विश्वस्त सेवक चण्ड और मुण्डने कुमारी देवीको देखा। इतनी सुन्दरता उन्होंने इसके पहले कभी नहीं देखी थी। वे मोहित और आनन्दके कारण चेतनाहीन हो गये। चेतना आनेपर उन्होंने शुम्भ और निशुम्भसे कहा—'महाराज! हम दोनोंने एक कुमारीको देखा है। वह सिंहपर सवारी करती है और अकेले रहती है। उसमें इतना अधिक सौन्दर्य है, जो आजतक कहीं नहीं देखा गया; वह तो नारीरत्न ही है।'

यह सुनकर शुम्भने सुग्रीव नामक असुरको दूत बनाकर देवीके पास भेजा। वह कुशल संदेशवाहक था। देवीके पास पहुँचकर उसने कहा—'देवि! शुम्भासुरका नाम विश्वमें विख्यात है। उसे कौन नहीं जानता? सम्पूर्ण विश्व आज उसके चरणोंमें है। उन्होंने जो संदेश भेजा है, उसे आप सुननेका कष्ट

करें। उन्होंने कहा है---'मैं जानता हूँ कि तुम नारियोंमें रत्न हो और मैं रत्नोंकी खोजमें रहता हूँ। इसलिये तुम मुझे या मेरे भाईको अपना पति बना लो।'

देवी बोलीं---"दूत! तुम्हारा कथन सत्य है, किंतु विवाहके सम्बन्धमें मेरी एक प्रतिज्ञा है। पहले उसे तुम सुन लो---'युद्धमें जो मुझे जीत ले, जो मेरे अभिमानको चूर कर दे, उसीको मैं पति बनाऊँगी।' तुम मेरी इस प्रतिज्ञाको उन्हें सुना दो। फिर इस विषयमें वे जैसा उचित समझें, करें। अच्छा तो यह होगा कि वे स्वयं यहाँ पधारें और मुझे जीतकर मेरा पाणिग्रहण कर लें।"

सुग्रीवने कहा---'देवि! मालूम पड़ता है, तुम्हारा गर्व तुम्हारी बुद्धिपर हावी हो गया है। भला जिससे इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता हार गये; दानव, मानव, नाग हार गये; उससे तुम सुकुमारी अकेले कैसे लड़ सकोगी? जरा बुद्धिपर बल देकर सोचो। मैं तुम्हारे हितकी बात कह रहा हूँ। तुम मेरे साथ चली चलो। अपना अपमान मत कराओ।'

देवीने कहा---'दूत! तुमने अपनी समझसे मेरे हितकी बात कही है; परंतु इस बातपर भी तो विचार करो कि प्रतिज्ञा कैसे तोड़ी जाय? यद्यपि यह प्रतिज्ञा मैंने बिना सोचे-समझे की है, तथापि दूत! प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा होती है। अतः तुम लौट जाओ और आदरपूर्वक मेरा संदेश उन्हें सुना दो।'

असुर सुग्रीव देवीकी वक्तृत्व-शक्तिसे अत्यन्त विस्मय-में पड़ गया। फिर भी उसे 'छोटे मुँह बड़ी बात' समझकर अमर्ष हो आया और लौटकर उसने दैत्यराजसे सब बातें कह सुनायीं। दैत्यराज तो अमर्षका पुतला था ही। वह देवीका संदेश सुनकर एँड़ीसे चोटीतक क्रोधके मारे काँप उठा और सेनापतिसे बोला---'धूम्रलोचन! तुम शीघ्र जाओ और उस दुष्टाको केश पकड़कर घसीटते हुए यहाँ ले आओ। वह संसारमें रहकर मेरा गौरव नहीं जानती। इसका यही दण्ड है। मालूम पड़ता है, वह कुछ देवताओंपर भरोसा कर बैठी है, अतः उसको मार-पीटकर घसीट लाओ।' धूम्रलोचन साठ हजार सेनाके साथ वहाँ पहुँचा और सुकुमार अङ्गोंवाली उस कुमारीको देखकर उसके बचपनसे चिढ़कर बोला---'अरी! शुम्भके पास प्रसन्न मनसे चली चल, नहीं तो मैं झोंटा पकड़कर घसीटकर ले जाऊँगा, फिर आगे क्षमा न करूँगा।' देवी बोलीं---'सेनापति! तुम बलवान् हो, तुम्हारे पास सेना भी है। यदि तुम बलपूर्वक ले जाओगे तो मैं क्या कर सकती हूँ।'

धूम्रलोचन आग-बबूला होकर झपटा, किंतु देवीके हुंकारते ही वह जलकर भस्म हो गया। सेनाका सफाया सिंहने कर डाला। यह समाचार पाकर दैत्यराजकी क्रोधाग्नि भभक उठी। उसने चण्ड और मुण्डको देवीको लानेके लिये भेजा। वहाँ पहुँचकर उन दैत्योंने देवीको मुसकराती हुई पाया। फिर तो चारों ओरसे आक्रमण कर दिया गया। यह देखकर भयंकर क्रोधके कारण भगवतीका रंग काला हो गया और उनकी भृकुटीसे महाकाली प्रकट हो गयीं। वे चीतेके चर्मकी साड़ी और नरमुण्डोंकी माला पहने थीं। उनका शरीर हड्डियोंका ढाँचा मात्र था। इस तरह वे बहुत ही भयानक दीख रही थीं। उन्हें देखकर दैत्योंके रोंगटे खड़े हो गये। वे दैत्योंपर टूट पड़ीं। दैत्य-सेनामें भगदड़ मच गयी। वे घोड़ा-हाथीसहित योद्धाओंको मुखमें डालने लगीं, सभी अस्त्र-शस्त्रोंको चबाने लगीं तथा तलवारकी एक चोटसे सेनाकी पंक्तियोंका सफाया करने लगीं। इस प्रकार क्षणभरमें सारी सेना समाप्त हो गयी। उसके बाद उन्होंने चण्डको तलवारके एक ही आघातसे काट गिराया। मुण्ड भी उनके रोषका शिकार हुआ। शेष सेना भयसे भाग खड़ी हुई। तत्पश्चात् महाकाली चण्ड और मुण्डके कटे मस्तकको हाथमें लेकर भगवतीके पास

आयीं और विकट अट्टहास करती हुई बोलीं—'चण्ड-मुण्डको तो मैंने मार गिराया, अब शुम्भ-निशुम्भका वध तुम करोगी।' भगवतीने कहा—'तुमने चण्ड और मुण्डका संहार किया है, अतः तुम्हारा नाम 'चामुण्डा' भी होगा।'

चण्ड और मुण्डके मारे जानेपर शुम्भके क्रोधका ठिकाना न रहा। उसने उदायुध नामक छिआसी सेनापतियों, कंबु नामवाले दैत्योंके चौरासी सेनापतियों और धौम्रकुलके सौ सेनापतियोंको अपनी-अपनी सैनिक टुकड़ियोंके साथ भेजा। कालक, दौर्हृद, मौर्य और कालकेय भी भेजे गये। असंख्य सेनाओंद्वारा देवी चारों ओरसे घेर ली गयीं। तब देवीने माहेश्वरी, वैष्णवी, कार्तिकेयी, ऐन्द्री आदि शक्तियोंको अपने-अपने विशेष अस्त्र-शस्त्रोंके साथ प्रकट कर सेनाके संहारमें लगा दिया। थोड़ी ही देरमें सेनाका सफाया हो गया। शेष दैत्य प्राण लेकर भाग खड़े हुए। तब अद्भुत पराक्रमी रक्तबीज युद्धके लिये आया। उसमें यह विशेषता थी कि उसके शरीरसे रक्तकी जितनी बूँदें गिरतीं, उतने नये रक्तबीज उत्पन्न हो जाते थे। वह अपनेको अजेय समझता था, अतः बड़े गर्वके साथ आकर युद्ध करने लगा। ऐन्द्रीके वज्र-प्रहार और वैष्णवीके चक्र-प्रहारसे इसके शरीरसे अधिक मात्रामें रक्त पृथ्वीपर गिरे, जिससे सारा जगत् रक्तबीजोंसे भर गया। वे सब-के-सब मातृगणोंसे जूझ रहे थे। जितने मारे जाते थे, उससे कई गुने बढ़ रहे थे। यह दृश्य देखकर देवतालोग घबरा गये। देवताओंको घबराया देखकर देवीने कालीसे कहा—'चामुण्डे! तुम गिरते हुए इनके रक्तकणोंको चाटती जाओ और रक्तबीजोंको उदरस्थ करती जाओ।' चामुण्डाने थोड़ी ही देरमें रक्तबीजोंको समाप्त कर दिया। अन्तमें देवीने रक्तबीजको मारा और चामुण्डाने उसके सारे रक्तको पृथ्वीपर गिरनेसे पहले ही मुखमें डाल लिया। कालीके मुँहमें भी बहुत-से रक्तबीज उत्पन्न हुए; परंतु माँ सबको चबा गयीं। इस तरह उस दुष्टकी सारी क्रियाएँ व्यर्थ सिद्ध हुईं और वह मारा गया। इधर मातृगणोंका उद्धत नृत्य होने लगा।

निशुम्भ यह दृश्य देखकर क्रोधसे तिलमिला उठा। मातृगणोंसे युद्ध करते हुए उसने देवीको अपना लक्ष्य बनाया। शुम्भने भी निशुम्भका साथ दिया। दोनों मिलकर देवीपर चढ़ आये। निशुम्भने तीक्ष्ण तलवारसे देवीके वाहन सिंहके मस्तकपर प्रहार किया। देवीने क्षुरप्रसे उसकी तलवार और ढालको काट दिया। इसके बाद निशुम्भने शूल, गदा और शक्ति नामक हथियार चलाये; किंतु देवीने सबको काट गिराया। अन्तमें निशुम्भ फरसा लेकर दौड़ा। देवीने बाणोंसे मारकर उसे धराशायी कर दिया।

भाईको गिरते देख शुम्भ क्रोधसे विह्वल हो गया। उसने अपने आठों हाथोंमें आठ दिव्यास्त्र लेकर देवीपर आक्रमण किया। देवीने शङ्ख और घंटा बजाये। इनके शब्दने दैत्योंके तेजको हर लिया। सिंहकी दहाड़ भी दैत्योंको दहला रही थी। उधर महाकालीने आकाशमें उछलकर पृथ्वीपर दोनों हाथोंसे चोट की। इससे इतना भयानक शब्द हुआ कि दैत्य थर्रा उठे। शिवदूतीने घोर अट्टहास करके उस शब्दको और भी भयावना बना दिया।

शुम्भ इन कार्यकलापोंसे और क्षुब्ध हो उठा। उसने पूरी शक्ति लगाकर देवीपर शक्तिसे प्रहार किया। देवीने उसे उल्कासे शान्त कर दिया। पुनः देवीके चलाये बाणोंको शुम्भने और शुम्भके चलाये बाणोंको देवीने टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तदुपरान्त देवीने एक प्रचण्ड शूलसे शुम्भपर आघात किया, जिससे वह मूर्छित होकर गिर पड़ा।

इस बीच निशुम्भ होशमें आ चुका था। उसने दस हजार हाथ उत्पन्न कर उनसे एक साथ दस हजार चक्र

चलाये। उस समय देवी चक्रोंसे ढक-सी गयीं। क्षण-मात्रमें ही उन्होंने सभी चक्रोंको बाणोंसे काटकर धूलमें मिला दिया। इसी तरह उसकी गदाएँ और तलवारें भी काट डाली गयीं। अब निशुम्भ शूल लेकर देवीपर धावा किया। देवीने झट अपने शूलसे उसे बींध दिया और वह पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। शीघ्र ही उसकी छातीसे दूसरा महाकाय दैत्य 'खड़ी रह, खड़ी रह' कहते हुए निकला। देवी ठहाका मारकर हँस पड़ीं और तलवारके एक ही वारसे उसके दो टुकड़े कर दिये।

निशुम्भके मरनेसे शुम्भको महान् दुःख हुआ; क्योंकि वह उसका प्राणसे बढ़कर प्यारा भाई था। तत्पश्चात् वह अत्यन्त कुपित होकर बोला—'तू घमंड मत कर। तेरा अपना कोई बल नहीं है। तूने तो दूसरोंका सहारा ले रखा है।' जगदम्बाने कहा—'मैं तो एक ही हूँ। मुझसे भिन्न दूसरी कौन है? ये जो और दिखायी दे रही हैं, वे मेरी ही भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। देखो, मैं अपनी शक्तियोंको समेट रही हूँ।' इसके बाद सब शक्तियाँ भगवतीमें लीन हो गयीं। उस समय केवल देवी ही रह गयीं। तदनन्तर पुनः दोनोंमें युद्ध प्रारम्भ हो गया।

शुम्भने बहुत-से अस्त्र-शस्त्र चलाये; किंतु उन्हें खेल-खेलमें ही देवीने नष्ट कर दिया। देवीके द्वारा छोड़े गये अस्त्रोंको शुम्भने भी काट डाला। फिर शुम्भने बाणोंकी झड़ी लगा दी। देवीने उन्हें काटकर उसके धनुषको भी काट दिया। तब वह शक्ति लेकर दौड़ा। भगवतीने उसकी शक्तिको भी नष्ट कर दिया। पुनः वह ढाल और तलवार लेकर दौड़ा। देवीने बाणोंसे उन दोनोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिया और उसके घोड़े और रथको भी ध्वस्त कर दिया। अब उसने मुद्गर लेकर धावा किया। देवीने झट मुद्गरको काटकर चूर-चूर कर दिया। तब शुम्भने झपटकर देवीकी छातीमें मुक्का मारा। बदलेमें देवीने उसे ऐसा थपेड़ा जमाया कि वह भूतलपर जा गिरा। थोड़ी देर बाद वह फिर झपट्टा मारकर देवीको आकाशमें उठा ले गया। फिर तो दोनों निराधार आकाशमें ही लड़ने लगे। अन्तमें देवीने शुम्भको पकड़कर चारों ओर घुमाकर बड़े वेगसे पृथ्वीपर पटक दिया। वह पुनः उठकर देवीको मारने दौड़ा। तबतक देवीने शूलसे ऐसा वार किया कि उसके आघातसे उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। उसके मरते ही चारों ओर प्रसन्नता छा गयी। पहले जो उत्पात-सूचक उल्कापात आदि हो रहे थे, वे सब शान्त हो गये। देवगण हर्षित होकर पुष्प-वृष्टि करने लगे, गन्धर्व बाजे बजाने लगे और अप्सराएँ नाचने लगीं।

मेधा मुनिने राजा सुरथ और समाधि वैश्यको शक्तिके अवतारके ये तीन चरित सुनाये तथा अन्तमें बतलाया कि वे देवी नित्य, अज, अमर और व्यापक हैं, फिर भी अवतार लेकर विश्वका त्राण करती रहती हैं। वे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करती हैं तथा विश्वको मोहित भी करती हैं; किंतु पूजा करनेपर धन, पुत्र, बुद्धि देती हैं और मोहको दूर करती हैं। तुम दोनों उन्हींकी शरणमें जाओ।'

तब दोनोंने मुनिको प्रणाम किया और वे तपस्याके लिये तत्पर हो गये। एक नदीके तटपर जाकर दोनों महानुभावोंने भगवतीके दर्शनार्थ तपस्या प्रारम्भ कर दी। साथ ही मिट्टीकी मूर्ति बनाकर वे षोडशोपचार पूजा भी करने लगे। वे पहले भोजनकी मात्रा कम करते गये। फिर निराहार रहकर ही आराधना करने लगे। तीन वर्षोंके बाद भगवतीने दर्शन दिया और उन्हें मुँहमाँगा वरदान प्रदान किया। उसके प्रभावसे सुरथने अपना राज्य प्राप्त किया और मरणोपरान्त यही सावर्णि मनु हुए। वैश्य महोदयको ज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे उनकी मुक्ति हो गयी। (क्रमशः)

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

(डॉ० श्रीशरणप्रसादजी)

[रोगोंकी उत्पत्ति और फैलाव]

स्वस्थ रहनेका उपाय क्या है या हम बीमार क्यों पड़ते हैं ? सामान्यतः व्यक्ति ऐसे प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होता । इसलिये छोटी-मोटी पीड़ा, जैसे——सिर-दर्द, जुकाम, खाँसी या ज्वर होनेपर अज्ञानके कारण घबराकर वैद्य या डॉक्टरके पास पहुँचता है और दवाके प्रभावसे रोगका लक्षण शान्त होनेपर वह पुनः अपने काम-काजमें लग जाता है । कुछ शान्त प्रकृतिके धैर्यवान् व्यक्ति बीमार होनेपर उसका कारण ढूँढ़नेका प्रयास करते हैं; क्योंकि वे मानते हैं कि उनसे सम्भवतः कुछ भूल हुई है । इस प्रकारके व्यक्ति भी खान-पान तथा रहन-सहनमें तात्कालिक (स्वास्थ्य सुधरनेतक) थोड़ा परिवर्तन करते हैं; किंतु साथ-साथ दवा भी लेते हैं । ऐसे व्यक्ति अपेक्षाकृत अल्पकालमें स्वास्थ्य लाभ करते हैं ।

जैसे मोटर बिगड़नेपर गैरेजमें भेजकर ठीक करायी जाती है, वैसे ही लोग भी बीमार होनेपर अपने शरीरको डॉक्टरको सुपुर्द कर देते हैं । आजकल चूँकि बीमारियोंकी संख्या बढ़ रही है, इसलिये आर्थिक दृष्टिसे यह प्रक्रिया विशेष महँगी पड़ती जा रही है ।

शरीरका स्वस्थ रहना अत्यन्त स्वाभाविक है, उसका सहज धर्म है और रोगी होना एक आकस्मिक घटना है । हमारा वर्तमान जीवन इतना अस्त-व्यस्त तथा तेज हो गया है कि अब किसी-न-किसी रोगसे पीड़ित रहना उसका स्वभाव बन गया है । आजका व्यक्ति यह मानता है कि थोड़ा-बहुत अस्वस्थ रहना शरीरकी स्वाभाविक अवस्था है । आधुनिक जीवन-क्रममें स्वस्थ रहनेके लिये मनुष्यको विशेष प्रयत्न करना पड़ता है; क्योंकि वर्तमान जीवन-क्रम शरीरको रोगी बनाये रखनेका एक व्यवस्थित प्रयास ही है ।

वर्तमान आहार-विहारमें पञ्चतत्त्वके आधारपर मौलिक परिवर्तन किये बिना शरीर तथा मनको स्वस्थ रखना केवल हवाई-कल्पना सिद्ध होगी ।

शरीरमें रोग क्यों और कैसे होता है, इसपर थोड़ा विचार कर लें । गहराईसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जायगा कि हमलोग प्रतिदिन निःसंकोच प्राकृतिक नियमोंका जाने-अनजाने उल्लङ्घन करते रहते हैं ।

(१) आहारमें असंयम——आहार-सम्बन्धी अनेक गलत धारणाओं तथा आदतोंके कारण पेटकी गड़बड़ी प्रायः सर्वदा बनी रहती है । यदि कभी एकाध दिन पेट साफ हो गया तो अहोभाग्य मानते हैं । कई लोगोंको बचपनसे कभी अच्छी तरह खुलकर दस्त होनेकी बात करते नहीं सुना तथा उन्होंने कभी तेज भूखका आस्वादन नहीं किया । बहुत-से बच्चे सब्जी खाना पसंद नहीं करते । मिठाइयाँ तथा तली हुई वस्तुएँ हमारे भोजनमें प्रतिदिन होनेका आग्रह हमलोगोंका रहता है । फलतः होटलों तथा दवाखानोंकी संख्या बढ़ती जा रही है ।

श्रमकी कमी या अभाव——आहारकी ज्यादती तथा श्रम या व्यायामकी कमी अथवा पूर्णतः अभाव हमारे जीवनके कटु सत्य हैं । परिणामतः शरीर एक चलता-फिरता 'रोग-खाना' बना रहता है, अर्थात् कोई-न-कोई रोग शरीरको खाता रहता है । पेटमें वायु हो रही है, सिर भारी है, भूख नहीं लगती, मनमें अस्थिरता है । इस 'रोग-खाने'वाले शरीरको 'दवाखाने'की आवश्यकता

रहती है। इसी कारण श्रम किये बिना खाना हजम करने तथा दस्त साफ लानेके लिये पाचक एवं दस्तावर ओषधियोंका प्रचुर प्रचार बढ़ रहा है।

आजकल लोगोंका जीवन मानसिक तनावसे परिपूर्ण है, जिससे शरीरकी स्वाभाविक प्रक्रियामें बाधा उत्पन्न होती है। चिन्ताओंसे घिरे रहनेके कारण सिरमें भारीपन, अनिद्रा, कब्ज, मन्दाग्नि आदि लक्षण स्वाभाविक हो गये हैं।

बहुत कम लोग यह जानते हैं कि हलका व्यायाम जैसे--खुली--ताजी हवामें घूमना या खोखो, रूमाल-चोर, बैडमिंटन, रिंग आदि खेल खेलनेसे मानसिक तनाव तुरंत कम होता है। इससे प्रसन्नता बढ़ती और शरीरमें हलकापन आता है। मीठी थकान लगनेपर नींद भी अच्छी आती है और सिर-दर्द तथा कब्ज भी दूर हो जाता है।

दैनिक जीवनचर्यामें मानसिक तथा शारीरिक श्रमका संतुलन आरोग्यकी दृष्टिसे नितान्त आवश्यक है। शक्तिके अनुसार श्रम या व्यायामके बिना शरीरको स्वस्थ रखना असम्भव है।

युक्त विश्रामका असंतुलन—रातको देरसे भोजन करना, देरतक जागते रहना, सिनेमा या क्लबोंमें जाना आदि प्रवृत्तियाँ दिन-पर-दिन 'सभ्यता'में गिनी जाने लगी हैं। बड़े शहरोंमें सम्भवतः ही कोई साढ़े दस या ग्यारह बजेके पूर्व सोता हो। देरसे सोनेके कारण प्रातःकाल भी ये देरसे अर्थात् साढ़े छः-सात बजेतक उठते हैं। कभी-कभी नींद न आनेपर भी प्रातःकालका अमूल्य समय बिस्तरमें सिर ढँककर कृत्रिम अँधेरेमें बिता देते हैं। कई लोग तो आठ बजेके पूर्व उठते ही नहीं और इसका वर्णन वे ऐसे करते हैं, मानो वह कोई शानकी या वीरताकी बात हो।

प्रातःकालका अमूल्य समय नित्य-कर्मसे निवृत्त होकर प्रार्थना, स्वाध्याय, शरीर-श्रम या व्यायाम, घूमनेमें व्यतीत करनेसे तन और मन दोनों स्वस्थ-प्रसन्न रहते हैं।

शक्तिके अनुसार श्रम किये बिना अच्छी सुखद निद्रा दुर्लभ है। अनेक उच्चवर्गीय लोगोंकी रातें अनिद्रा या तन्द्रामें कटती हैं। कभी-कभी ये लोग नींदकी गोलियोंका प्रयोग करते हैं, जिससे कुछ तन्द्रा-सी आ जाती है; किंतु प्रातः ताजगी नहीं आती।

आहारमें संयम तथा श्रम या व्यायाममें नियमित होनेपर शरीर अपने विश्रामका स्वाभाविक मार्ग अपना लेता है।

मानसिक तनाव—मानसिक तनाव हमारे जीवनका सबसे कमजोर पहलू है। शरीर अस्वस्थ रहनेके कारण मन खिन्न बना रहता है। स्वभाव कुछ चिड़चिड़ा हो जाता है। परिणामतः ईर्ष्या, द्वेष, लोभ आदि विकार मनमें अनजानमें पलते रहते हैं। इससे मनुष्य स्वयं तथा दूसरोंको कष्टमें डालता है।

प्रार्थना, सद्ग्रन्थोंका अध्ययन, नामस्मरण, ध्यान तथा विवेक एवं विचारके अनुसार जीवन व्यतीत करनेका प्रयास किया जाय तो गलत आदतें अनायास छूटती जाती हैं। ऐसे व्यक्तिका आहार-विहार क्रमशः संयमित तथा प्राकृतिक होता जायगा। ईश्वरकी सत्तापर दृढ़ विश्वास रखनेसे मनका बोझ हलका होने लगता है।

महातत्त्वोंसे दूरी—बच्चोंको आवश्यकतासे अधिक कपड़ोंमें लपेटकर रखना, वर्षा और धूपसे बच्चोंको सदा डरते हुए बचाते रहना आदि सभी आदतें शरीरके स्वाभाविक विकासमें बाधक हैं।

गाँवोंकी मजदूर माताएँ अपने बच्चोंको टोकरीमें रखकर लाती, ले जाती हैं। ठंडके मौसममें ये बच्चे टोकरीमें खुले बदन या बहुत कम कपड़े पहनकर खेलते रहते हैं। उत्तरप्रदेश और बिहारमें गरीब माताएँ कड़ाकेकी सर्दीमें बच्चोंको गोदमें उठाकर बाहर घूमती हैं। इन बच्चोंका स्वास्थ्य प्राय: सुन्दर रहता है।

उधर अमीर या मध्यम वर्गके बच्चे सिल्क, नायलान, टेरेलीन आदिके कीमती, लेकिन हवासे आरक्षित (Air-Proof) अवस्थाओंमें पलते हैं। जिन बच्चोंको इस प्रकार हवा, धूप, पानी आदिसे बचाया जाता है, उन्हें थोड़ी खुली हवा लगनेपर सर्दी, जुकाम, खाँसी तथा धूपमें थोड़ा चलनेपर ज्वर भी आ सकता है। ऐसे बच्चे बड़े होकर प्रकृतिसे दूर रहनेका प्रयास करते हैं, जिससे उनका स्वास्थ्य नाजुक बना रहता है।

श्रम, व्यायाम या कसरत आदिके अभ्याससे ये नाजुक बच्चे प्रकृतिकी गोदमें पूरी आजादीसे खेल सकते हैं। इससे उनके ऊपर कोई प्रतिकूल परिणाम नहीं होगा; अपितु ये शरीर और मनसे अधिक स्वस्थ और सुन्दर बनेंगे।

आजकल वातानुकूल (Air-conditioned) घरमें रहने या आफिसोंमें काम करनेवालोंको सर्दी या गरमी दोनों सहन नहीं होती। ऐसा प्रसंग आनेपर उनको प्राय: जुकाम या सिर-दर्द हो जाता है। बहुत सर्दी या गरमीके अवसरोंमें ये लोग वातानुकूल स्थानमें रहें तो इससे शरीरपर कोई विशेष प्रतिकूल परिणाम नहीं पड़ता। फिर भी सामान्यत: जितना हो सके, स्वाभाविक तापमानके वायुमण्डलमें रहना सदा हितकर है। इससे जीवनी-शक्ति बढ़ती है और शरीरकी रोग-प्रतिकार-शक्तिमें भी वृद्धि होती है।

प्रकृति ईश्वरका ही स्वरूप—मन दु:खसे भरा हो, किसी कठिन समस्यामें उलझा हो, तो ऐसी अवस्थामें किसी सुन्दर पहाड़ी झरनेके पास केवल शान्त बैठ जाने मात्रसे प्रकृति माता व्यक्तिके मानसिक कष्टको अनजानमें ही हर लेती है। जो प्रकृति सूक्ष्म मानसिक कष्टको दूर कर सकती है, वह स्थूल शरीरके कष्टको भी सरलतासे दूर कर सकेगी, इसमें शङ्का नहीं है, बशर्ते कि हम उसके पास जानेका कष्ट करें।

कृत्रिम शहरोंसे दूर, प्रकृतिके बीच जंगलोंमें रहनेवाले आदिवासी लोग हृदयसे कितने उदार, निर्मल और भोले हैं। प्रकृति स्वयं उदार और निर्मल है। वह तो ईश्वरका प्रत्यक्ष स्वरूप ही है। इसीलिये प्रकृतिके बीच रहनेवाले लोग तन और मन दोनोंसे स्वस्थ और सुन्दर होते हैं। ऋषि, मुनि या साधक लोग इसी कारण पहाड़ों और जंगलोंमें जाकर साधना करते हैं; जिससे उनके ईश्वरीय गुण उच्चतम भूमिकामें पहुँचकर स्वयं ईश्वरस्वरूप हो जायँ।

प्रकृतिसे सम्यक् सम्बन्ध साधकर मनुष्य आसानीसे तन और मनके कष्टोंसे छुटकारा पा सकता है। केवल प्रकृतिके निकट जानेमात्रसे मानवमें कुछ गुण अवश्य आते हैं; लेकिन मानवकी पूर्णता प्रकृतिके नियमका पालन करनेमें है। जब दीर्घकालतक नियम-पालन किया जाता है, तो फिर उसका बोझ मनपर नहीं होता और वह मनुष्यका स्वभाव बन सकता है। कहावत है—Habit is the second nature of man. आदत मनुष्यका स्वभाव बन जाती है।
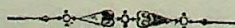
पढ़ो, समझो और करो

(१)

दीनतामें सत्यनिष्ठाकी झाँकी

गरमीकी छुट्टियोंमें मैं अपने घर गया था। वहाँ मेरी दूकानपर नियमित आनेवाले एक शिक्षक मित्रने यह घटना सुनायी थी--

मैं जब नया-नया अध्यापक होकर स्कूलमें आया, तबकी बात है यह। मैं दसवीं कक्षामें संस्कृतकी घंटीमें संस्कृत-श्लोकोंपर पाठ पढ़ा रहा था। इसी बीच शब्द सुनायी दिया--'मैं अंदर आ सकता हूँ महाशयजी !' 'हाँ' कहते ही एक पंद्रहवर्षीय विद्यार्थी मेरे सामने आकर उपस्थित हो गया। उसके वस्त्र उसकी दीनताकी साक्षी दे रहे थे। नंगे पैर, सुन्दर वदन, पर चेहरेपर अकथनीय वेदना फैली हुई थी। उसने करुण-भावसे धीरेसे मुझसे कहा--

'महाशय ! पंद्रह रुपयेकी सहायता करेंगे.......।' रुपयेकी बात सुनते ही मैं एक बार तो सहम गया, पर फिर सावधान होकर मैंने धीरेसे पूछा--'क्यों, क्या करोगे ?'

'महाशय ! आज शुल्क देनेकी अन्तिम तिथि है। मैं अबतक शुल्क नहीं दे सका--इसलिये कक्षाध्यापकने मुझे 'गेट आउट' कर दिया है। महाशय ! इतनी-सी सहायता करें तो पाँच-छः दिनोंमें मैं रुपये लौटा दूँगा।'--नीचा सिर किये बड़े करुणस्वरमें उसने कहा।

जो कुछ भी हो, मैं एक शिक्षक था। इतने विद्यार्थियोंके (और सो भी दसवीं कक्षाके ही विद्यार्थियोंके) सामने मुझसे 'न' नहीं कहा गया। मैं इस विद्यार्थीसे सर्वथा अपरिचित था, तो भी परिस्थितिवश मैंने जेबसे पंद्रह रुपये निकाले और उसके हाथपर रख दिये।

विद्यार्थी आभार मानता हुआ चला गया। कुछ क्षणोंतक तो मैं उस विद्यार्थीकी सभ्यता, नम्रता, वाक्पटुता आदिपर विचार करता रहा; पर उसी समय मनमें संदेहका कीड़ा कलबला उठा। मन तर्क-वितर्कोंसे भर गया; परंतु इस ओर ध्यान न देकर मैं अपने अध्यापन-कार्यमें लग गया।

एक-एक करके चार दिन बीत गये, पर उस विद्यार्थीके तो फिर दर्शन ही नहीं हुए। प्रतिदिन मैं उसकी बाट देखता। मेरा संदेह मजबूत हो गया। अन्तमें मैंने उस विद्यार्थीके वर्गमें जाकर खोज की तो पता चला कि वह विद्यार्थी चार-पाँच दिनोंसे स्कूलमें ही नहीं आता। मेरी आँखोंके सामने वे पंद्रह रुपये नाचने लगे।

मैं पता लगाने लगा। विद्यार्थियोंने मुझे अपने-अपने विचार बतलाये। मैंने विचारा--ये ठीक कहते हैं, उस विद्यार्थीने मेरे सीधेपनका लाभ उठाया होगा। ये सब मेरी अपेक्षा उससे परिचित भी अधिक हैं। उनकी बात सच मानकर मैं निराश होकर चुपचाप अपने काममें लग गया।

इस घटनाको बीते लगभग दस दिन हो गये। एक दिन मैं स्कूलमें अध्यापक-विश्राम-कक्षमें कुर्सीपर बैठकर समाचारपत्र पढ़ रहा था। इसी समय मेरे कानमें ध्वनि सुनायी दी--'मैं अंदर आ सकता हूँ महाशयजी !'

मैंने कहा--'हाँ'।

मैंने समाचारपत्रकी ओटसे देखा, वही विद्यार्थी है जो मुझसे शुल्क देनेके लिये पंद्रह रुपये माँगकर ले गया था। मैंने उसे बुलाया और वह धीरे-धीरे मेरे पास आ गया। डरते हुए पंद्रह रुपये देते हुए उसने कहा--

'महाशय ! देर हो गयी, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ ।' मैंने उससे सहसा पूछा—'स्कूलमें क्यों नहीं आते ?'

'महाशय !' कहते ही उसका गला भर आया । 'घरमें माताजी बीमार थीं । डाक्टरने कहा—रोग असाध्य है । इंजेक्शनोंकी आवश्यकता है; किंतु इंजेक्शनके पैसे मैं कहाँसे लाऊँ । मैं दीन हूँ, इसलिये मुझपर कोई विश्वास नहीं करता । किसीने मुझे एक पैसा भी नहीं दिया । ऐसी विषम परिस्थितिमें मैं क्या करता । मैं घबरा उठा; क्योंकि माताजीकी स्थिति गम्भीर होती जा रही थी । अन्तमें मैं विवश होकर आपके पास आया । सच्ची बात कहते लज्जा लग रही थी, इससे मैंने शुल्कका मिथ्या बहाना बनाकर आपसे रुपये माँगे और आपने विश्वास करके दे भी दिये । परंतु······' विद्यार्थीने कहा ।

'परंतु क्या ?'—अध्यापकने पुनः पूछा ।

'परंतु माँ········गयी ।' यों कहते-कहते बालक फफककर रो पड़ा । मैंने उसकी पीठ थपथपाकर उसे शान्त किया । उसने आँसू पोंछते हुए कहा—'फिर महाशय ! मैं स्कूलमें कैसे आ सकता था ? स्कूलकी दो महीनेकी फीस नहीं दे सका, मैं कहाँसे दूँ । अन्तमें स्कूल छोड़कर मैंने इधर-उधर मजदूरी करनी आरम्भ की । ये पंद्रह रुपये मेरे पसीनेके····'बोलते-बोलते उसका कण्ठ रुक गया ।

इस बालककी ऐसी सत्यनिष्ठा देखकर मेरा हृदय भावविभोर हो गया । सहानुभूतिके आवेशमें मैंने उससे कहा—'बेटा ! ऐसी विषम परिस्थितिमें मुझे रुपये वापस करनेकी क्या आवश्यकता थी ?'

'नहीं महाशय !' कहते हुए उसका स्वर दृढ़ हो गया । 'मेरी माताजीने अन्तकालमें मुझसे कहा था—बेटा ! रुपये जिनसे लाया है, उन्हें शीघ्र वापस दे आना । बिना परिश्रमका पैसा सुखद नहीं होता ।'

'नरेन्द्र ! ये रुपये ले जा, तेरे काम आयेंगे'—कहकर मैंने नोट उसके सामने रख दिया ।

'नहीं महाशय ! बिना परिश्रमके पैसे लेनेके लिये माताजीने मुझे स्पष्ट मना कर दिया है—माताजीकी आज्ञाका मैं कभी उल्लङ्घन नहीं करूँगा ।' ऐसा कहकर वह रुपये न लेकर चला गया ।

(२)

ईमानदारीका आदर्श

बाबू जगनरामजी एक साधारण व्यापारी थे; परंतु अपनी ईमानदारीमें पक्के थे । बहुत बड़ा कारोबार नहीं था, साधारण गल्ले और किरानेकी दूकान थी । आढ़तमें भी माल आता था । एक बार किरानेका बाजार बहुत चला । आढ़तियोंका माल भी बहुत अधिक आने लगा । एक मित्रसे कारोबारमें लगानेके लिये रुपये मिल गये, जिससे आढ़तके काममें बहुत आसानी हो गयी । एक आढ़तियेके यहाँसे बहुत-सा जीरा बिकनेको आया । उस समय जीरेका बाजार मंदा था, बिक नहीं सका । आढ़तियेने जल्दी बेचनेको लिखा । जगनरामजीने चेष्टा की; पर नहीं बिक सका । आढ़तियेकी आतुरता देखकर इन्होंने उसे लिख दिया कि 'तुम्हारा जीरा अमुक भावमें बिक गया ।' इस भावमें उसे घाटा था । इन्होंने सोचा कि आढ़तियेको रुपयेकी आवश्यकता है, इसीलिये वह मंदे भावमें बेचना चाहता है । उसे रुपये भेज देंगे । बाजार बहुत ही मंदा है, इससे मंदा और क्या होगा । आगे चलकर बाजार तेज हुआ तो ठीक है, नहीं तो अपने थोड़ा-बहुत घाटा लग जायगा ।

कुछ ही समय बाद नयी फसलके माल आनेका समय आया; पर इस बार जीरेकी फसल बहुत खराब थी । बाजार तेज हो गया । भाव एकाएक बहुत अधिक बढ़

गया। जगनरामजीने माल बेच दिया। आढ़तियेको जिस भावमें 'बेची' लिखा था, उससे पाँच हजारका अन्तर पड़ गया। जगनरामजीने सोचा—'आढ़तियेका माल था। बिक गया होता, तब तो दूसरी बात थी, पर माल तो अपने गोदाममें ही था। वह बेचारा घाटेमें क्यों रहे?' उन्होंने आढ़तियेको लिख दिया कि 'जीरा आपका बिका नहीं था। आपको रुपयेकी जल्दी थी, इसीसे आप घाटा खाकर बाजार-भाव बेचनेको लिख रहे थे। मैंने आपको उस दिनके बाजार-भावसे बेची लिख दिया था; पर वास्तवमें उस समय कोई ग्राहक था ही नहीं। आपका माल पड़ा रह गया, अब बिका है और उसमें आपको खर्च-ब्याज निकालकर लगभग चार हजार-का लाभ हुआ है। हिसाब और रुपये साथ भेज रहा हूँ।'

आढ़तियेके पास पहले और भी माल था। उसे भी उसने लाचारीसे घाटा खाकर बेचा था। उसके घाटेकी रकम लोगोंको देनी थी। वह बहुत चिन्तित था। अचानक बिना किसी सम्भावनाके चार हजार रुपये आ गये। वह प्रसन्नताके मारे उछल पड़ा। उसका रोम-रोम जगनरामको आशीष देने लगा। कहना नहीं होगा कि इससे जगनरामकी साख बहुत बढ़ गयी और बहुतसे नये-नये व्यापारी उसीको माल भेजने लगे।

(३)

आदर्श मित्रता

डामन और पिथियस दो मित्र थे। दोनोंमें बड़ा ही प्रेम था। एक बार उस देशके अत्याचारी राजाने डामनको फाँसीकी आज्ञा दे दी। डामनके स्त्री-बच्चे बहुत दूर समुद्रके उस पार रहते थे। उसने उनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। राजाने कहलवाया कि 'डामनके बदलेमें यदि कोई दूसरा आदमी जेलमें रहनेको तैयार हो और यदि डामन समयपर न पहुँच सके तो उसीको फाँसीपर चढ़ा दिया जाय, यह उसे स्वीकार हो तो डामन नियत समयके लिये घर जा सकता है।' पिथियसने डामनसे बिना ही पूछे यह शर्त स्वीकार कर ली। पक्की लिखा-पढ़ी हो गयी और डामनको जेलखानेसे निकालकर उसकी जगह पिथियसको रख दिया गया। पिथियस सोच रहा था—'हे भगवन्! डामन समयपर न लौटे तो बड़ा अच्छा हो।' समय बीतने लगा। हवा विरुद्ध होनेके कारण डामनकी नाव समयपर नहीं पहुँच सकी। फाँसीका समय समीप आ गया। पिथियसके मनमें आनन्द और शोक—दोनोंकी लहरें उठ-बैठ रही थीं। जब वह सोचता कि 'डामन नहीं आया, मेरी फाँसी हो जायगी', तब वह आनन्दमें मस्त हो जाता। दूसरे ही क्षण जब यह विचार आता कि 'अभी मेरी फाँसी हुई तो नहीं, इसी बीचमें यदि वह आ पहुँचा तो मेरा मनोरथ असफल हो जायगा' तब वह शोकमग्न हो जाता। वह बड़े ही व्यग्रचित्तसे बार-बार भगवान्‌से प्रार्थना करता—'प्रभो! डामनके आनेमें देर हो जाय और मैं फाँसीपर चढ़ा दिया जाऊँ।'

उधर डामन नावमें यह सोचकर अधीर हो रहा था कि 'कहीं मैं न पहुँच सका तो मेरे पिथियसकी फाँसी हो जायगी।' समय हो गया। डामन नहीं पहुँचा। पिथियसको फाँसीके मचानपर चढ़ाया गया। उसे बड़ा हर्ष था। लोगोंने कहा—'डामनने बहुत बुरा किया जो वह समयपर नहीं आया।' इस बातको पिथियस नहीं सह सका। उसने कहा—'कई दिनोंसे हवा विपरीत चल रही है, इसीसे वह नहीं आ सका। उसपर किसीको कोई बुरा भाव नहीं करना चाहिये।' इतना कहकर वह जल्लादसे बोला—'भाई! समय हो गया है, अब तुम देर क्यों कर रहे हो?' उसे एक-एक क्षण असह्य हो रहा था। जल्लाद तैयार हुआ। इसी बीचमें दूरसे बड़े जोरकी आवाज सुनायी दी—'ठहरो-ठहरो, मैं आ पहुँचा।' लोगोंके देखते-ही-देखते डामन पागल-सा हुआ

घोड़ा भगाता हुआ आया और जीनेसे कूदकर फाँसीके मचानपर जा चढ़ा। पिथियसको गले लगाकर बोला—'भगवान्‌को धन्यवाद है, जो उन्होंने तुम्हारी प्राणरक्षा की।' पिथियसने हाथ मलते हुए कहा—'भगवान्‌ने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी। तुम दो मिनट बाद क्यों न पहुँचे।' इस अद्भुत दृश्यको देखकर कठोर हृदयका राजा भी आश्चर्यमें डूब गया। उसपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा और वह उनके समीप आकर गद्गद वाणीसे बोला—'दोनों मचानसे उतर जाओ। मैं ऐसी बेजोड़ जोड़ीको तोड़ना नहीं चाहता। मेरी तो प्रार्थना है कि दोके साथ तीसरा मैं भी ऐसा ही बन जाऊँ।'

(४)

प्रार्थनाका फल

'सर्वशक्तिशाली ईश्वरकी प्रार्थनामें कितना चमत्कार है, इसके उदाहरणमें मैं एक नयी घटना पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ—मेरी पत्नीके बाँयें पैरमें असह्य पीड़ा हो रही थी। मैंने स्थानीय चिकित्सकोंसे जाँच करायी, किंतु उनके कथनानुसार पत्नीके पूर्ण स्वस्थ होनेमें शङ्का थी। अतः मैं उसे लेकर उदयपुरस्थित जनरल अस्पताल पहुँचा। साथमें एक सालकी बच्ची भी थी, जिसका नाम था 'नीता'। वहाँ पत्नीकी जाँचके पश्चात् डाक्टरसाहबने 'साइटिका' रोग बताया तथा पंद्रह-बीस दिनके लिये भरती करनेकी सलाह दी। डाक्टरसाहबके परामर्शानुसार मैंने पत्नीको आर्थपिडिकल वार्ड नं० २ में भरती करवा दिया। पत्नीको वार्डमें भरती करानेके बाद मेरा दिनभरका कार्य था एक सालकी लड़की 'नीता'-को रखाना।

सदाकी तरह अस्पतालमें मरीजों और उनके मिलने-वालोंका आने-जानेका क्रम जारी था। जो भी आते, बच्ची 'नीता' को पुचकार-दुलारकर चले जाते।

एक दिनकी बात है कि मैं नीताको वार्डके बाहर खेला रहा था कि एक वृद्ध महात्मा मेरे पास आये। उनकी वेशभूषा और विचारोंसे ऐसा लगता था कि वे धार्मिक विचारोंके हैं। परिचयके आदान-प्रदानके बाद उन्होंने मुझसे पूछा कि 'यहाँ आपका कौन बीमार है?' मैंने उन्हें बताया कि 'इस बच्चीकी माँ बीमार है, जो पास ही वार्डमें भरती है।'

उन्होंने गहरी साँस छोड़ते हुए कहा—'चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं है। भगवान् अच्छा करेंगे।' इतना कहकर उन्होंने बच्चीकी ओर इशारा करते हुए मुझे समझाया और कहा कि "ऐसी कहावत है कि बच्चोंके साथ भगवान् खेलने आते हैं, अतः रातको जब यह सोये तो प्रार्थनाके स्वरमें इसे इङ्गित करके आप यह प्रार्थना करें—'हे भगवन्! मेरी माँ वार्ड नं० २ में पलंग नं० १० पर भरती है। मेरे पिता मुझे रखते-रखते विह्वल हो जाते हैं, अतः आप मेरी माँको शीघ्र ठीक कर दीजिये।' बच्ची तो बोल सकती नहीं, अतः इसकी ओरसे आप तीन बार दो-तीन दिनतक इस प्रार्थनाको दुहरायें। भगवान् इसके पास खेलने आयेंगे, वे इसकी पुकार अवश्य सुनेंगे और इसकी माता ठीक हो जायगी।" यह कहकर वे बच्चीको आशीर्वाद देकर चले गये।

मैंने उन पुण्यात्मा बाबाजीके कथनानुसार 'नीता' जब सोने लगती, तब लगातार तीन दिनतक प्रार्थना की और सचमुच भगवान्‌ने प्रार्थना सुन ली। पत्नीको चमत्कारिक रूपसे लाभ हुआ अर्थात् उसके पैरकी पीड़ा नष्ट हो गयी। प्रार्थनाके तीसरे दिन पत्नी एकदम स्वस्थ थी। चौथे दिन हमें अस्पतालसे छुट्टी मिल गयी।

मैंने मन-ही-मन पुण्यात्मा बाबाजीको धन्यवाद दिया और यह मानते हुए मैं घर लौटा कि भगवत्-प्रार्थनाका चमत्कार और अलौकिक शक्तिका प्रभाव आज भी है, जो बच्ची नीताके माध्यमसे प्रार्थना करनेपर अचूक दवाके रूपमें साकार हुआ। —श्रीमहेशकुमार चतुर्वेदी

मनन करने योग्य

[यह भी न रहेगा]

मेरे एक मित्र हैं। उन्होंने अपनी मेजपर कुछ दिनोंसे एक आदर्श-वाक्य लिखकर रख लिया था। वाक्य इतना ही था--'यह भी न रहेगा।'

बात कितनी सच्ची, कितनी कल्याणकारी है--यदि हृदयमें बैठ जाय। संसारका प्रत्येक अणु गतिशील है। परिवर्तन--निरन्तर परिवर्तन हो रहा है यहाँ।

हमारा यह शरीर--इस शरीरको हम अपना कहते हैं; कहाँ है हमारा शरीर? हमारा शरीर कौन-सा?

एक शरीर था माताके गर्भमें--बहुत छोटा, बहुत सुकुमार, मांसका एक पिण्डमात्र। जन्मके पश्चात् शिशुका शरीर क्या उस गर्भस्थ शरीरके समान रह गया? क्या वह गर्भस्थ शरीर बदल नहीं गया?

बालकका शरीर--आप कहते हैं कि बालक युवा हो गया। क्या युवा हो गया, जो बालकमें था वही युवकमें है। शरीर युवा हुआ? बालकके शरीरकी आकृतिके अतिरिक्त युवकके शरीरमें और क्या है बालकके शरीरका। आकृति--तब क्या मोम, मिट्टी, पत्थर आदिसे वैसी ही कोई आकृति बना देनेसे उसे आप बालकका शरीर कह देंगे?

युवक वृद्ध हो गया। युवककी देहसे वृद्धकी देहमें क्या गया या क्या घट गया? वह युवक-देह ही वृद्ध हुई--यह एक धारणा नहीं है तो है क्या?

विज्ञान कहता है--शरीरका प्रत्येक अणु साढ़े तीन वर्षमें बदल जाता है। आज जो शरीर है, साढ़े तीन वर्ष बाद उसका एक कण भी नहीं रहेगा; लेकिन देह तो रहेगी और जैसे हम आज इस देहको अपनी देह कहते हैं, उस देहको भी अपनी देह कहेंगे।

शरीरमें व्याप्त जो चेतनतत्त्व है, उसकी चर्चा ही व्यर्थ है। वह तो अविनाशी है। लेकिन देह--देह तो परिवर्तनशील है। वह प्रत्येक क्षण बदल रही है। जी हाँ--प्रत्येक क्षण। मल, मूत्र, कफ, स्वेद, नख, रोम आदिके मार्गसे, श्वाससे और यों भी आप प्रत्यक्ष देखते हैं कि चर्म बदलता रहता है, अस्थितक प्रतिक्षण बदल रही है। नवीन कण रुधिर, मांस, मज्जा, स्नायु एवं अस्थि आदिमें स्थान ग्रहण करते हैं--पुराने कण हट जाते हैं। वे किसी मार्गसे शरीरसे निकल जाते हैं।

जैसे नदीकी धारा प्रवाहित हो रही है--जल चला जा रहा है। क्षण-क्षण नवीन जल आ रहा है। वही नदी, वही धारा--भ्रम ही तो है। समस्त संसार क्षण-क्षण बदल रहा है। कुछ 'वही' नहीं है।

गर्भमें जो देह थी, बालकमें नहीं है। बालककी देह--युवककी वही देह नहीं है। युवककी देह ही वृद्ध देह हुई--केवल भ्रम है। सब अवस्थाएँ बदल रही हैं। वृद्ध मर गया--हो क्या गया? शरीर तो बदलता ही रहा था, फिर बदल गया। आकृतिका कुछ अर्थ नहीं है और जीव--वह तो अविनाशी है।

व्यर्थ है शरीरका मोह। व्यर्थ है मृत्युका भय। जो नहीं रहता--नहीं रहेगा वह। उस बदलनेवाले, नष्ट होनेवाले अस्थिर, विनाशीका मोह व्यर्थ है।

अमृत-बिन्दु

अभी जो वस्तु, व्यक्ति आदि हमारे पास हैं, उनका साथ कबतक रहेगा ? इसपर प्रत्येकको विचार करनेकी आवश्यकता है ।

× × ×

जिसका स्वभाव दूसरोंको दुःख देनेका है, वह दूसरोंको भी दुःख देगा और स्वयं भी दुःख पायेगा; परंतु जिसका स्वभाव दूसरोंको सुख देनेका है, वह दूसरोंको भी सुख देगा और स्वयं भी सुख पायेगा ।

× × ×

परमात्मा दूर नहीं हैं, केवल उन्हें पानेकी लगनकी कमी है ।

× × ×

जबतक नाशवान् वस्तुओंमें सत्यता दीखेगी, तबतक बोध नहीं होगा ।

× × ×

बोध होनेपर अपनेमें दोष तो रहते नहीं और गुण (विशेषता) दीखते नहीं ।

× × ×

अपनेमें विशेषता केवल व्यक्तित्वके अभिमानसे दीखती है ।

जो जिस वस्तु, व्यक्ति आदिका दुरुपयोग करता है, उसे उससे वञ्चित होनेका दुःख भोगना ही पड़ता है ।

× × ×

जो अपना है, वह सदा ही अपना है और जो किसी भी समय अपना नहीं है, वह कभी भी अपना नहीं हो सकता ।

× × ×

जिसे नहीं करना चाहिये, उसे करनेसे और जिसे करना चाहिये, उसे न करनेसे ही चिन्ता और भय होते हैं।

× × ×

जो सभीका होता है, वही हमारा (अपना) होता है । जो किसी भी समय किसीका नहीं होता, वह हमारा हो ही नहीं सकता ।

× × ×

जिनकी रुचि भगवान्‌की ओर हो गयी है, वे ही भाग्यशाली हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं और वे ही मनुष्य कहलाने योग्य हैं ।

× × ×

साधकको भगवत्प्राप्तिमें देरी होनेका कारण यही है कि वह भगवान्‌के वियोगको सहन कर रहा है । यदि उसे भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाय तो भगवान्‌के मिलनेमें देरी नहीं होगी ।

× × ×

मनुष्यको वह काम करना चाहिये, जिससे उसका भी हित हो और दुनियाका भी हित हो, अभी भी हो और परिणाममें भी हित हो ।

× × ×

भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख होनेके समान कोई पाप नहीं है ।

× × ×

जबतक असत्‌की कामना, आश्रय, भरोसा है, तबतक सत्‌का अनुभव नहीं हो सकता ।

× × ×

हम शरीरको रखना चाहते हैं, सुख-आराम चाहते हैं, अपने मनकी बात पूरी करना चाहते हैं—यह सब असत्‌का आश्रय है ।

× × ×

मनुष्य समझदार होकर भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंको चाहता है—यह आश्चर्यकी बात है ।

श्रीराधाका स्वरूप-ध्यान

जय राधे रासेश्वरी, पद-पङ्कज सुख-कंद।
सहजहिं कृपा-कटाक्ष तें रीझि रहै नँद-नंद॥
राधे जू अब देहु मोहि निज पद-पदुम-पराग।
परसि प्रान पावन बनहिं, उदय होउ अनुराग॥
सकल सुखनिकी खान, श्यामा सहज स्वरूप-घन।
करु मन निसि-दिन ध्यान, ताप-हरन तारन-तरन॥

पद्मासन आसीन कीन्ह मोहन मति चेरी।
पदपङ्कज-मकरंद पियत पिय भ्रमर भये री॥
चन्द्र-चन्द्रिका चारु चरन-नख निकसत न्यारी।
अलक लड़ी अलबेलि, इष्ट बरसाने-वारी॥ १॥
सहस शरद शशि वदन, सदन शोभा-सी सोहति।
कुञ्चित केश कलाप मनहुँ मधुपावलि मोहति॥
चन्दन-चर्चित चिबुक, विन्दु मृगमद की प्यारी।
मंजुलता की राशि, इष्ट बरसाने-वारी॥ २॥
उन्नत नासा, अधर बिम्ब शुक की छबि छाई।
काम-कमान समान भृकुटि भावति कुटिलाई॥
कर्ण युगल कमनीय कर्णिका कौंधति भारी।
चारु चन्द्रिका शीश, इष्ट बरसाने-वारी॥ ३॥
कर कंकण, वर फूल, मंजु मुँदरी मन मोहति।
बाजूबंद भुजानि, पहुँचि पहुँचे पै सोहति॥
लहँगा लहरत लाल, ओढ़नी ओढ़ि अनारी।
नख-सिख सुख-शृंगार, इष्ट बरसाने-वारी॥ ४॥
सिन्धु-सुता, गिरि-सुता, शची, रति रूप-उजागरि।
तेहू निरखि लजाति, आनको करिहै सरवरि॥
नित नव निरुपम तरुनि, नित्य मोहन-मनहारी।
स्वयं कला कमनीय, इष्ट बरसाने-वारी॥ ५॥
वृन्दावन-रस-रासि, रास-मण्डल की शोभा।
विपिन--विहारिनि, गुनी, लाल व्रजपति की लोभा॥
चहैं कृपा की कोर निरन्तर गिरिवरधारी।
सौदामिनि-घनश्याम, इष्ट बरसाने-वारी॥ ६॥
भानु-भवन की भाग्य, नन्द की नयन-पूतरी।
कीरति की कल कीर्ति, यशोमति-सुयश-सूत्र री॥
सुघर सकल सखियाँनि, रूप-गुन-शील-उजारी।
'साँवर' की सुख-मूल, इष्ट बरसाने-वारी॥ ७॥

—श्रीराधाकृष्णजी श्रोत्रिय, 'साँवरा'

श्रीनारायणाष्टकम्

वात्सल्यादभयप्रदानसमयादार्तार्तिनिर्वापणादौदार्यादघशोषणादगणितश्रेयःपदप्रापणात् ।
सेव्यः श्रीपतिरेक एव जगतामेतेऽभवन् साक्षिणः प्रह्लादश्च विभीषणश्च करिराट् पाञ्चाल्यहल्या ध्रुवः ॥
प्रह्लादास्ति यदीश्वरो वद हरिः सर्वत्र मे दर्शय स्तम्भे चैवमिति ब्रुवन्तमसुरं तत्राविरासीद्धरिः ।
वक्षस्तस्य विदारयन् निजनखैर्वात्सल्यमापादयन्नार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥
श्रीरामात्र विभीषणोऽयमनघो रक्षोभयादागतः सुग्रीवानय पालयैनमधुना पौलस्त्यमेवागतम् ।
इत्युक्त्वाभयमस्य सर्वविदितं यो राघवो दत्तवानार्त० ॥ ३ ॥
नक्रग्रस्तपदं समुद्धृतकरं ब्रह्मादयो भो सुराः पात्यन्तामिति दीनवाक्यकरिणं देवेष्वशक्तेषु यः ।
मा भैषीरिति यस्य नक्रहनने चक्रायुधः श्रीधर आर्त० ॥ ४ ॥
भो कृष्णाच्युत भो कृपालय हरे भो पाण्डवानां सखे क्वासि क्वासि सुयोधनादपहृतां भो रक्ष मामातुराम् ।
इत्युक्तोऽक्षयवस्त्रसम्भृततनुं योऽपालयद्द्रौपदीमार्त० ॥ ५ ॥
यत्पादाब्जनखोदकं त्रिजगतां पापौघविध्वंसनं यन्नामामृतपूरकं च पिबतां संसारसंतारकम् ।
पाषाणोऽपि यदङ्घ्रिपद्मरजसा शापान्मुनेर्मोचित आर्त० ॥ ६ ॥
पित्रा भ्रातरमुत्तमासनगतं चौत्तानपादिर्ध्रुवो दृष्ट्वा तत्सममारुरुक्षुरधृतो मात्रावमानं गतः ।
यं गत्वा शरणं यदाप तपसा हेमाद्रिसिंहासनमार्त० ॥ ७ ॥
आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता घोरेषु च व्याधिषु वर्तमानाः ।
सङ्कीर्त्य नारायणशब्दमात्रं विमुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति ॥ ८ ॥

इति श्रीकूरेशस्वामिविरचितं श्रीनारायणाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

अति वात्सल्यमय होनेके कारण, भयभीतोंको अभयदान देनेका स्वभाव होनेके कारण, दुःखी पुरुषोंका दुःख हरनेके कारण, अति उदार और पापनाशक होनेके कारण तथा अन्य अगणित कल्याणमय पदों (श्रेयों) की प्राप्ति करा देनेके कारण सारे जगत्‌के लिये भगवान् लक्ष्मीपति ही सेवनीय हैं; क्योंकि प्रह्लाद, विभीषण, गजराज, द्रौपदी, अहल्या और ध्रुव—ये (क्रमसे) इन कार्योंमें साक्षी हैं ॥ १ ॥ 'अरे प्रह्लाद ! यदि तू कहता है कि ईश्वर सर्वत्र है तो मुझे खम्भेमें दिखा'—दैत्य हिरण्यकशिपुके ऐसा कहते ही वहाँ भगवान् आविर्भूत हो गये और अपने नखोंसे उसके वक्षःस्थलको विदीर्ण करके अपना वात्सल्य प्रकट किया। ऐसे दीनरक्षक भगवान् नारायण ही मेरी एकमात्र गति हैं ॥ २ ॥ 'हे श्रीरामजी ! यह निष्पाप विभीषण राक्षस रावणके भयसे यहाँ आया है'—यह सुनते ही 'सुग्रीव ! उस पुलस्त्य ऋषिके पौत्रको तुरंत ले आओ और उसकी रक्षा करो'—ऐसा कहकर जैसा अभयदान श्रीरघुनाथजीने उसे दिया, वह सबको विदित ही है। वे ही दीनरक्षक भगवान् नारायण मेरी एकमात्र गति हैं ॥ ३ ॥ ग्राहद्वारा पाँव पकड़ लिये जानेपर सूँड़ उठाकर 'हे ब्रह्मा आदि देवगण ! मेरी रक्षा करो !'—इस प्रकार दीनवाणीसे पुकारते हुए गजेन्द्रकी रक्षामें देवताओंको असमर्थ देखकर 'मत डरो' ऐसा कहकर जिन श्रीधरने ग्राहका वध करनेके लिये सुदर्शनचक्र उठा लिया, वे ही दीनरक्षक भगवान् नारायण मेरी एकमात्र गति हैं ॥४॥ 'हे कृष्ण ! हे अच्युत ! हे कृपालो ! हे हरे ! हे पाण्डवसखे ! तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? दुर्योधनद्वारा अपहरण की गयी मुझ आतुरीकी रक्षा करो !'—इस प्रकार प्रार्थना करनेपर जिन्होंने अक्षयवस्त्रसे द्रौपदीका शरीर ढककर उसकी रक्षा की, वे दुखियोंका उद्धार करनेमें तत्पर भगवान् नारायण मेरी गति हैं ॥ ५ ॥ जिनके चरणकमलोंके नखोंकी धोवन श्रीगङ्गाजी त्रिलोकीके पापसमूहोंको ध्वंस करनेवाली हैं, जिनका नामामृतसमूह पान करनेवालोंको संसार-सागरसे पार करनेवाला है तथा जिनके पादपद्मोंकी रजसे पाषाण भी मुनिशापसे मुक्त हो गया, वे दीनरक्षक भगवान् नारायण ही मेरी एकमात्र गति हैं ॥ ६ ॥ अपने भाईको पिताके साथ उत्तम राजसिंहासनपर बैठे देख उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने जब स्वयं ही उसपर चढ़ना चाहा, तब पिताने उसे अङ्कमें नहीं लिया और विमाताने भी उसका अनादर किया, उस समय जिनकी शरण जाकर उसने तपके द्वारा सुमेरु गिरिके राजसिंहासनकी प्राप्ति की, वे ही दीनरक्षक भगवान् नारायण मेरी एकमात्र गति हैं ॥ ७ ॥ जो पीड़ित हैं, विषादयुक्त हैं, शिथिल (निराश) [illegible] भयभीत हैं अथवा किसी भी घोर आपत्तिमें पड़े हुए हैं, वे 'नारायण' शब्दके संकीर्तनमात्रसे दुःखसे [illegible] सुखी हो जाते हैं ॥ ८ ॥